सौन्दर्य-तत्त्व
और
काव्य-सिद्धान्त

सौन्दर्य-तत्त्व
और
काव्य-सिद्धान्त

लेखक

डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे

अनुवादक

डॉ० मनोहर काळे

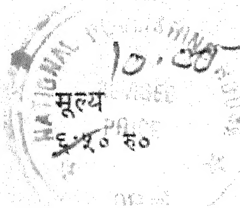
हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, के निमित्त

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
२६ ए, चन्द्रलोक, जवाहरनगर, दिल्ली
बिक्री केन्द्र : नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण
सितम्बर, १९६३



मुद्रक
शोभा प्रिंटर्स
मॉडल बस्ती, ईस्टपार्क रोड,
नई दिल्ली

हमारी योजना

'सौन्दर्य-तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त' हिन्दी-अनुसन्धान परिषद् ग्रंथ-माला का तीसवाँ ग्रन्थ है। 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्' हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर, सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं : हिन्दी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है; और तीसरे ऐसे हैं जिनका अनुसन्धान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ—प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, (२) हिन्दी वक्रोक्ति-जीवित, (३) अरस्तू का काव्यशास्त्र, (४) हिन्दी काव्यादर्श, (५) अग्नि-पुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी रूपान्तर), (६) पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, (७) होरेस कृत 'काव्यकला', (८) हिन्दी अभिनव भारती तथा (९) हिन्दी नाट्य-दर्पण।

द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, (३) सूफ़ी मत और हिन्दी साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला, (७) हिन्दी में भ्रमर-गीत काव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, (९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, (१०) मतिराम : कवि और आचार्य, (११) आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त, (१२) ब्रजभाषा के कृष्णकाव्य में माधुर्य-भक्ति, (१३) हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास, (१४) आधुनिक हिन्दी-मराठी

में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, (१५) प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास, (१६) आधुनिक हिन्दी-काव्य में रूप-विधाएँ।

तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है :

(१) अनुसन्धान का स्वरूप, (२) हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध (३) अनुसन्धान की प्रक्रिया।

प्रस्तुत ग्रंथ प्रथम वर्ग का दसवाँ प्रकाशन है, जिसे हम विनत गर्व के साथ हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञों की सेवा में अर्पित कर रहे हैं।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, नगेन्द्र
दिल्ली विश्वविद्यालय, अध्यक्ष
दिल्ली—६

प्राक्कथन

भरतमुनि-प्रतिपादित रस की वस्तुनिष्ठता

भरतमुनि का नाट्य-शास्त्र नाट्य-कला का सर्वांगीण परिचय देने के लिए रचा गया है। नट-प्रस्तुत समस्त कार्य-व्यापार 'नाट्य' की परिधि में आते हैं। नट के कार्य-व्यापार की सुनिश्चित सीमा-रेखा निर्धारित करना कठिन है। अगणित मनोभावों से निर्मित मानव-स्वभाव का यथावत् अनुकरण करने में ही नट की सार्थकता है। मनोभावों की असंख्यता स्वीकार करते हुए भी सुख और दुःख की मूलभूतता भरतमुनि से लेकर आज तक यथावत् बनी हुई है। सुख-दुःखात्मक मनोभावों का स्वरूप अमूर्त है और मानव की अन्तरात्मा इनकी अभिव्यक्ति के लिए सृष्टि के आदि से आकुल रही है। परिणामतः अमूर्त मनोभावों को मूर्त-स्वरूप देने की उसकी प्रवृद्ध आकांक्षा ने विभिन्न कलाओं को जन्म दिया है। वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत, काव्य आदि कलाएँ अभिव्यक्ति की इसी प्रवृद्ध आकांक्षा के मूर्त स्वरूप हैं।

नाट्य ही एक ऐसा पुष्ट माध्यम है जिससे मानव की अभिव्यक्ति की आकांक्षा की सम्पूर्ति अत्यन्त प्रबल रूप में हो जाती है, अतः नाट्य-कला प्राचीन भारत की पर्याप्त समृद्ध कला रही है। इसमें वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत, काव्य, नृत्य, अभिनय आदि का आश्रय लेकर अमूर्त मनोभावों को रंगमंच पर मूर्तता प्रदान करने का प्रयत्न किया जाता है। 'लोक-स्वभाव' का अनुकरण सरल कार्य नहीं है। इसके लिए अनेक युक्ति-साधनों का आश्रय लिया जाता है। लोक-स्वभाव को आंगिक, वाचिक, आहार्य, सात्विक आदि अभिनयों के माध्यम से नट रंगमंच पर प्रस्तुत करता है। स्थूल वस्तु-जगत् को रंगमंच पर प्रस्तुत करना तो सरल है, परन्तु अमूर्त मनोभावों को मूर्तता प्रदान करना एक जटिल कार्य है। अमूर्त मनोभावों को मूर्तता प्रदान करने में संलग्न नट की इसी अभिनयात्मक

क्रिया का नाम नाट्य है।[1] वस्तुतः नाट्य का निजी स्वरूप क्रियानिष्ठ, व्यापारनिष्ठ और मूर्त है, अतः यह वस्तुनिष्ठ है। नाट्य के स्वरूप की जैसी यह वस्तुनिष्टता है, मूर्तता है, लगभग इसी प्रकार की वस्तुनिष्ठता भरतमुनि-प्रतिपादित रस की है।

नाट्य को जिस प्रकार से अमूर्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रंगमंच पर उसकी मूर्तता स्पष्ट है, लगभग इसी प्रकार से भरत-प्रतिपादित रस को भी अमूर्त कहना कठिन है। जिस प्रकार नाट्य के मूल में लोक स्वभावगत सुख-दुःखात्मक भावों की स्थिति होती है, उनकी मूलभूत स्थिति का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता, क्योंकि नाट्य उन्हीं की अभिव्यक्ति का माध्यम है, इसी प्रकार रस के मूल में निहित रति, शोक आदि मनोभावों की सत्ता का भी प्रतिषेध नहीं हो सकता। परन्तु जिस प्रकार नाट्य से भले ही सुख-दुःख समन्वित नाना भाव प्रेक्षक ग्रहण करें किन्तु नाट्य को स्वरूप-प्रतिपादन की दृष्टि से नाट्य = सुख-दुःख कहना जैसा असंगत है, वैसा ही रस = आनन्द = सुख-दुःख मान लेना सदोष है। रस की स्थिति नाट्य के ही एक अंग के रूप में है। इसीलिए भरतमुनि ने 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' कहा है। रस को इन्होंने प्रायः कहीं भी सहृदयाश्रित नहीं बताया है। प्रत्युत् स्थान-स्थान पर रसों को नाट्याश्रित दिखाया गया है।[2] रस तो रंगमंच पर विभावानुभाव तथा संचारियों के 'संयुक्त' (संयोगात्) रूप का नाम है। भरतमुनि के सामने तो रंगमंच था, उनकी समस्त चिन्तन-प्रक्रिया उसी पर केन्द्रित थी। इसी कारण इन्होंने 'तत्र विभावानुभाव......' इस सूत्र में 'तत्र' शब्द से रंगमंच पर रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया समझाई है। सहृदय के आस्वाद को इन्होंने कहीं भी रस-संज्ञा नहीं दी है। उदाहरणार्थ, शृंगार-रस की निष्पत्ति-प्रक्रिया लीजिये। भरतमुनि के शब्दों में ही 'यह रंगमंच पर सुखद भावों

---

१. योऽयं स्वभावो लोकस्य सुख-दुःख समन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतः नाट्यमित्यभिधीयते ॥
नाट्यशास्त्र, १।१२२ अभि० भा०

२. तथैवेतेषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोऽनन्ना......
अभि० भा०, पृ० ३०२

तथा ये रसा इति पठ्यन्ते नाट्ये नाट्य विचक्षणैः। —ना० शा०, ६-२

से सम्पन्न होता है, इसमें ऋतु, माला, अलंकार आदि का योग होता है, प्रेमीजन 'गान्धर्व' काव्य का सेवन करते हैं और वे उपवन में विहार करते हुए दिखाये जाते हैं······इस प्रकार के वातावरण में पुरुष और 'प्रमदा', का रंगमंच पर योग दिखाने को शृंगार-रस कहते हैं।'[1] इस उदाहरण से स्पष्ट है कि भरतमुनि की दृष्टि में अमूर्त रतिभाव का रंगमंच पर साकारीकरण करने में सहायक सभी मूर्त तथा अमूर्त (विभाव, अनुभाव, संचारी आदि) वस्तुओं या उपादानों का संयोग कर देना शृंगार रस है। रंगमंच पर इनका 'संयोग' ही 'रस-निष्पत्ति' है। भट्ट लोल्लट की दृष्टि रंगमंच पर विशेष रूप से केन्द्रित रही है। वे प्रायः किसी अद्वैत-दर्शन के फेर में नहीं पड़े थे। इसीलिए उन्होंने विभावानुभावादि से 'उपचित' स्थायीभाव को रस माना है। विभावानुभावादि का उपचय स्पष्टतः रंगमंच पर होता है, अतः स्पष्ट है कि सहृदय के आस्वाद की प्रक्रिया और रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया दोनों भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। भरतमुनि ने इनका पृथक्-पृथक् निरूपण ही किया है। स्थायीभाव तो अमूर्त हैं, उनकी स्थिति कवि, नट, सहृदय या मनुष्यमात्र में हो सकती है। क्योंकि अमूर्त मनोभावों को नट अपने अभिनय-कौशल से मूर्त बना रहा है, उन्हें वस्तुनिष्ठता प्रदान कर रहा है। ज्योंही रति आदि परम्परागत आठ स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव आदि से समृद्ध रूप ग्रहण कर लेते हैं तब उन्हीं की संज्ञा रस बन जाती है।[2] यहाँ एक गम्भीर प्रश्न उपस्थित होता है। जब रति, शोक आदि स्थायीभाव अमूर्त हैं तो उनसे निर्मित रस को अमूर्त ही क्यों न माना जाय? इसका उत्तर यदि रंगमंच पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करके खोजने का प्रयत्न करें तो अत्यन्त सरल है। भरतमुनि ने स्थायीभावों और रसों का पृथक्-पृथक् स्वरूप-निर्देश किया है। एक का स्वरूप नितान्त अमूर्त मनोभावात्मक है तो दूसरे का विभावानुभावादि से संयुक्त मूर्त अभिनयात्मक है। जब तक रति, शोक आदि अमूर्त स्थायीभाव 'उपचित' अर्थात्

---

१. सुखप्रायेषु सम्पन्नः ऋतु माल्यादि सेवकः।
पुरुषः प्रमदा युक्तःशृंगार इति संज्ञितः॥—ना० शा०, ६-५२

२. विभावानुभावयुक्तो ह्यंग वस्तु समाश्रयः।
संचारिभिस्तु संयुक्तः स्थाय्येव रसो भवेत्॥ ७।१८३

विभावानुभावादि से संयुक्त नहीं हो जाते अर्थात् उन्हें रंगमंच पर वस्तु-निष्ठता प्राप्त नहीं होती तब तक वे स्थायीभाव ही कहलाते हैं।[1] ज्यों ही वे स्थायीभाव[2] रंगमंच पर विभावानुभाव आदि के संयोग से परिपुष्ट आकार ग्रहण कर लेते हैं, अभिनयात्मक बन जाते हैं, तब रस कहलाते हैं। भरत के मत में इस वस्तुनिष्ठता को या मूर्तता को प्राप्त रस के मूल में निहित स्थायीभाव का प्रेक्षक आस्वाद लेते हैं (स्थायीभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति) और हर्ष आदि को प्राप्त करते हैं। भरत का दृष्टिकोण यहाँ पर्याप्त स्पष्ट है। प्रेक्षक को प्राप्त होने वाले तत्त्व हैं—हर्ष, शोक आदि न कि रस। रस की स्थिति तो रंगमंच पर ही है, नाट्याश्रित है, अभिनयात्मक है। यही वह स्थल है जहाँ पर प्रेक्षकों के आस्वाद और रस के स्वरूप का एकीकरण करके रस को भी हर्ष, शोक आदि अमूर्त मनोभावों के समान ही अमूर्त मान लिया गया है। वस्तुतः भरत के दृष्टिकोण में प्रेक्षकों का आस्वाद कभी भी रस की संज्ञा प्राप्त नहीं करता। क्योंकि प्रेक्षक को प्राप्त हर्ष, शोक आदि अमूर्त हैं और रस तो इन्हीं भावों को रंगमंच पर दिए गए अभिनयात्मक, मूर्त अर्थात् विभावानुभावादि से संयुक्त रूप का नाम है। एक और उदाहरण लें। जैसे पूर्वोक्त 'श्रृंगार रस' का स्वरूप-निर्देशन रस की वस्तुनिष्ठता को प्रमाणित करता है वैसे ही भरत-निर्दिष्ट रौद्र रस की परिभाषा भी रस की रंगमंचगत वस्तुनिष्ठता को ही प्रमाणित करती है—

इति रौद्र रसो दृष्टो रौद्र वागंग चेष्टितः।
शस्त्रप्रहार भूयिष्ठ उग्र कर्म क्रियात्मकः॥

प्रस्तुत रौद्र रस की रंगमंचगत मूर्तता प्रेक्षक की आस्वाद्य वस्तु है।

---

१. स्थायीभवस्त्वनुपचितः—भट्टलोल्लट, अभि० भा०, पृ० २७४

२. नाट्य की दृष्टि से स्थायीभाव को नटगत मानने में कोई दोष नहीं आता, भरत के सामने तो यह समस्या ही नहीं थी कि स्थायी केवल नट का ही माना जाय, ऐतिहासिक पुरुष का माना जाय अथवा कवि या सहृदय-मात्र का माना जाय? उनके सामने तो सभी भाव नाट्याश्रित हैं, नाट्य का प्रस्तोता नट है, अतः उसमें भी इनकी स्थिति मान लेने में कोई बाधा नहीं आती।

अमूर्त स्थायी को जब रंगमंच पर विभावादि से 'आस्वाद्य पदार्थ' का स्वरूप प्राप्त होता है, तभी वह रस कहलाता है। रस का अधिष्ठान रंगमंच है, प्रेक्षक नहीं।

यह स्पष्ट हो चुका है कि शृंगार, करुण, रौद्र आदि रसों के स्वरूप का निर्देश करते समय भरतमुनि ने उनकी रंगमंचगत मूर्तता या वस्तु-निष्ठता की ओर ही अधिक ध्यान रखा है। इन्होंने व्यभिचारी भावों का स्वरूप जिस प्रकार से समझाया है उससे तो रस की वस्तुनिष्ठता या मूर्तता असंदिग्ध रूप से सिद्ध हो जाती है। भरत की मान्यता में 'व्यभिचारी भाव विभिन्न रसों में मुख्य रूप से संचरण करते हैं। और वागङ्ग सत्वोपेत रसों को प्रयोग में ले जाते हैं, अतः वे व्यभिचारी भाव कहलाते हैं'।[1] भरत का 'प्रयोग' शब्द इस प्रसंग में विशेष ध्यान देने योग्य है। रंगमंच पर रसों का प्रयोग कदापि अमूर्त नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में इसकी वस्तुनिष्ठता को अस्वीकार करना कठिन है। 'प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः' इस उक्ति से भरतमुनि ने रस की प्रयोगगत रंगमंचीय मूर्तता की स्पष्ट उद्घोषणा कर दी है। नाट्य के सम्पूर्ण प्रयोग का अन्तिम साध्य वे 'सिद्धि' को मानते हैं।[2] इस प्रकार रस रंगमंचगत, नाट्याश्रित, एक मूर्त, वागङ्गसत्वोपेत—अर्थात् वस्तुनिष्ठ साधन है, जिसके मूल में अमूर्त स्थायीभाव निहित होता है। दूसरे शब्दों में अमूर्त स्थायीभाव ही नाट्य में रूपान्तरित होकर विभावा-नुभावादि के संयोग से मूर्त रस बन जाता है। यह रस साधनभूत है और इससे प्रेक्षकों को साध्य अर्थात् 'सिद्धि' की प्राप्ति होती है।

साधन और साध्य का एकीकरण

अब तक के विवेचन से स्पष्ट हुआ कि भरत के दृष्टिकोण में रस साधन है या माध्यम है, साध्य नहीं है। प्रेक्षक रंगमंच पर विभिन्न रसों की निष्पत्तियों को देखता है, वह रसों के अनुरूप सुख-दुःखात्मक

---

१. विविधाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।
वागङ्ग्सत्वोपेतान् प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः॥
अभि० भा०, पृ० ३५७

२. यस्मात्प्रयोगः सर्वोऽयं सिद्ध्यर्थं सम्प्रतिष्ठितः॥

भावों की अनुभूति करता है, प्रेक्षक की अनुभूति चाहे सुखात्मक हो अथवा दुःखात्मक रस नहीं है। अमूर्त स्थायीभाव 'विभावानुभाव' तथा वाचिक, आंगिक, सात्विक आदि अभिनयों से या नटों के रंगमंचगत कार्य-व्यापारों से आकार ग्रहण करता है। इस स्थिति में अमूर्त स्थायी मूर्त बनता है, विशद आकार ग्रहण करता है, अर्थात् विभिन्न अनुकूल उपादानों से समन्वित होकर विशाल 'रूप' धारण करता है। इस साधन रूप को ही भरत ने रस माना है।[1]

अब रही प्रेक्षक की अनुभूति के स्वरूप की बात। जहाँ तक भरत-मुनि के दृष्टिकोण का प्रश्न है, इनके मत में तो प्रेक्षक रंगमंच पर प्रस्तुत रस के मूल में निहित स्थायीभाव के अनुरूप ही सुख-दुःखात्मक भाव ग्रहण करता है। यहाँ तक कि भरतमुनि ने आदर्श प्रेक्षक उसी को माना है जो रस के माध्यम से प्रेषित भाव के अनुरूप ही भावानुभूति करता है—

ये तुष्टौ तुष्टिमायान्ति शोके शोकं व्रजन्ति च।
दैन्ये दीनत्वमायान्ति ते नाट्ये प्रेक्षकाः स्मृताः॥

'स्थायीभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादिंश्चाधिगच्छन्ति' इस कारिका में 'हर्ष आदि' शब्द से हर्ष, शोक आदि अर्थ ग्रहण करना सदोष प्रतीत नहीं होता, किन्तु आनन्दवादी अभिनवगुप्त इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते। आचार्य अभिनवगुप्त का तर्क यह है कि नाट्य का अन्तिम साध्य सुख पहुँचाना है न कि दुःख, अतः नाट्य द्वारा प्रस्तुत सभी भाव सुखात्मक ही होंगे न कि दुःखात्मक। परिणामतः इनके मतानुसार रस भी आनन्दस्वरूप ही है। इसमें सन्देह नहीं कि भरतमुनि ने नाट्य-प्रयोजन में अनेक प्रयोजन गिनाए हैं और इनमें दुःखार्त, श्रमार्त तथा शोकार्त व्यक्तियों को 'विश्राम' देना भी एक प्रयोजन इन्होंने माना है।[2]

---

१. बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः॥ ७।१८१
विभावानुभाव युक्तो ह्यंगवस्तु समाश्रयः।
संचारिभिस्तु संयुक्तः स्थाय्येव तु रसो भवेद्॥ ७।१८३

२. दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥ ना० शा० १.

यह प्रयोजन नाट्य का अन्तिम साध्य है। रस के आनन्दवादी आचार्यों ने रस = साधन और साध्य = विश्रान्ति या आनन्द का समीकरण कर दिया है, जो तात्त्विक दृष्टि से अधिक संगत प्रतीत नहीं होता।

रस और आनन्द का समीकरण तथा 'सिद्धि-सिद्धान्त'

'रस-निष्पत्ति', रस का आस्वाद ग्रहण करने की प्रक्रिया और रसीभूत स्थायी के आस्वाद से उत्पन्न प्रेक्षक की अनुभूति ये सभी तत्त्व वस्तुतः पृथक्-पृथक् हैं। रस-निष्पत्ति का आधार रंगमंच है, उसी पर रस-निष्पत्ति-प्रक्रिया समझाई गई है। रस के मूल में अमूर्त स्थायी होता है, किन्तु जब यह रस-रूपता को प्राप्त करता है तब यह विभावानुभावादि से संयुक्त ही रहता है। प्रेक्षक का आस्वाद-'रस' यह अर्थ भरतोत्तर युग में ग्रहण किया गया है। इसका पुष्ट प्रमाण यह है कि भरतमुनि ने प्रेक्षक के आस्वाद की प्रक्रिया समझाने के लिए पृथक् से अध्याय लिखा है। इनकी मान्यता में रंगमंच पर जो भी 'प्रयोग' किया जाता है उसका अंतिम साध्य-'सिद्धि' है। सिद्धि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रेक्षकों से है। भरत के मत में रंगमंच पर निष्पन्न विभिन्न रसों एवं दृश्यों को देखकर प्रेक्षकों की दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं—एक शारीरी या मानुषी और दूसरी दैवी। शारीरी-प्रतिक्रिया में प्रेक्षकों के समस्त अंग व्यापार या शारीरिक चेष्टाएँ आ जाती हैं। जैसे पुलकित हो जाना, शरीर पर रोमांच आना, आवेग से उठने की चेष्टा करना, वस्त्र उछालना, हस्तांदोलन करना आदि क्रियाओं का अन्तर्भाव प्रेक्षकों की 'शारीरी सिद्धि' के अन्तर्गत होगा। नाट्य-दर्शन से प्रेक्षकों में उत्पन्न दूसरी सिद्धि है—दैवी। भरतमुनि ने इसे शारीरी सिद्धि की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। इनके मत में रंगमंच के 'प्रयोग' की सफलता या परिपूर्णता इसी दैवी सिद्धि की प्राप्ति में निहित है। दैवी-सिद्धि मानों नाट्य-प्रयोग के मूल्यांकन की कसौटी-सी बन जाती है। वस्तुतः यदि गहराई से सोचें तो इस दैवी सिद्धि का स्वरूप बहुत कुछ आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रस-स्वरूप से मिलता-जुलता है। रंगमंचगत 'प्रयोग' को देखकर जब प्रेक्षक भाव-विभोर या तन्मयता की स्थिति में आ जाते हैं तभी भरत के मत में इसे 'दैवी सिद्धि' समझना चाहिए। जब प्रेक्षक इस स्थिति में आ जाता है तब उसके

मुख से न तो कोई शब्द निकलता है, न किसी प्रकार की क्षुब्धता व्यक्त होती है और न शारीरिक प्रक्रियाएँ ही दिखाई देती हैं।[1] प्रेक्षक की प्रस्तुत दैवी सिद्धि रस-ध्वनिवादियों के 'आनंदैकघन' 'चर्व्यमाणतैकप्राण' 'वेद्यान्तर स्पर्श शून्य' आदि विशेषणों से विश्लेषित रस-स्वरूप से नितान्त भिन्न नहीं है। भरतमुनि का प्रस्तुत 'दैवी सिद्धान्त' ही आगे चलकर आनंदवादी रस-सिद्धान्त का स्वरूप ग्रहण कर गया। आज इस प्रकार का अनुमान नितांत असंगत प्रतीत नहीं होता। भरत की मान्यता में नाट्य-प्रयोग का अन्तिम साध्य है—'सिद्धि'।[2] प्रस्तुत 'सिद्धि' की प्राप्ति के लिए 'नाट्य' का प्रयोग किया जाता है, जिसमें रस नितांत महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इससे स्पष्ट होता है कि सिद्धि की उपलब्धि का साधन है—रस। यदि किसी विशिष्ट साधन से महत्त्वपूर्ण साध्य की पूर्ति हो जाती है तो साधन और साध्य को एक ही मान लेना तर्कसंगत नहीं है। उदाहरणार्थ, घर मनुष्य के सुख-आराम का महत्त्वपूर्ण साधन है, इससे प्रायः सभी को सुख और आराम मिलता है। परन्तु 'घर = सुख-आराम' इस प्रकार का समीकरण तात्विक दृष्टि से कभी भी संगत नहीं कहा जा सकता। घर का स्वरूप अपना है, विशिष्ट है, साधनात्मक है; इससे उपलब्ध सुख-आराम का स्वरूप भिन्न है, जो साध्यरूप है। सुख-आराम का घर से अटूट या अविभक्त सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, परन्तु इतने मात्र से दोनों के स्वरूप की समानता सिद्ध नहीं हो सकती। इसी प्रकार रस से 'सिद्धि' या आनन्द की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु रस और सिद्धि या आनन्द एक ही नहीं हो सकते। भरतोत्तर युग में शैव-अद्वैतवादी दर्शनों का विकास हुआ। इन दार्शनिकों ने जीवन का अन्तिम साध्य आनन्द या ब्रह्म की प्राप्ति निर्धारित किया। 'रस' को भी इन्होंने आनन्द का समानार्थी मान लिया। ('रसो वै सः' में ब्रह्म को रस रूप मान लिया गया है) परिणामतः नाट्याश्रित जो साधनात्मक रस था वह सहृदयाश्रित ही नहीं बना वरन् उसका

---

१. शारीरी या मानुषी सिद्धि—पुलकैश्चतरोमांचैरभ्युत्थानैस्तथैव च।
चेलदानांगुलिक्षेपैः शारीरी सिद्धिरिष्यते॥
दैवी सिद्धि—न शब्दो यत्र न क्षोभो न चोत्पात निदर्शनम्।
संपूर्णता च रंगस्य दैवी सिद्धिस्तु सा स्मृता॥

२. यस्मात्प्रयोगः सर्वोऽयं सिद्ध्यर्थं संप्रतिष्ठितः।

स्वरूप ब्रह्मास्वाद सहोदर आनन्दमय बन गया ।

डा० बार्लिंगे ने जिस वस्तुनिष्ठ रस-स्वरूप का प्रतिपादन किया है उसका समर्थन भरतमुनि की युग-सीमा और नाट्य-दृष्टि को ध्यान में रखकर करना असंगत प्रतीत नहीं होता । इसके अतिरिक्त स्वयं अभिनवगुप्त ने भी रस को वस्तुनिष्ठ मानने वाले मनीषियों के मतों का उल्लेख किया ही है ।[1] आचार्य अभिनवगुप्त ने इन मतों को एक तो बहुत संक्षेप में उद्धृत किया है दूसरी ओर इन वस्तुवादियों के मूल ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं । ऐसी स्थिति में उनके दृष्टिकोण की विशद व्याख्या संभव नहीं है । वस्तुनिष्ठ रस-स्वरूप का प्रतिपादन उन आचार्यों ने किस रूप में किया था, यह अनुसंधान का एक रोचक विषय है । प्रस्तुत भूमिका में उसी दिशा में चिन्तन का स्वल्प विनम्र प्रयत्न है । परन्तु इस विवेचन में भी विशुद्ध रूप से भरतमुनि के वचनों को ही एकमात्र आधार स्वरूप ग्रहण करने का प्रयत्न किया गया है ।

भारतीय जीवन तथा चिन्तन-क्षेत्र में दर्शनशास्त्र प्रमुख प्रेरक तत्त्व रहा है । शैव-अद्वैत दर्शन ने यहाँ के अन्य शास्त्रों की भाँति काव्यशास्त्र पर भी बलात् रूप से आच्छादित होकर उसके वास्तविक स्वरूप को आवृत कर लिया था । परिणामतः एक हजार वर्ष तक शैव-अद्वैत-दर्शन की विशिष्ट लीक पर ही काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का आख्यान और पुनराख्यान होता रहा है । भारतीय दर्शन और काव्यशास्त्र की विकास-परंपरा तथा उसके सिद्धान्तों के आंतरिक स्वरूप का मर्मज्ञ व्यक्ति ही इन अनैसर्गिक और बलात् आरोपित आवरणों को छिन्न-भिन्न करके तर्क की तुला पर प्राचीन सिद्धान्तों का मूल्यांकन कर सकता है और सत्य के उद्घाटन में समर्थ हो सकता है । डा० बार्लिंगे दर्शनशास्त्र और काव्यशास्त्र दोनों के प्रौढ़ विद्वान् हैं, इनमें सूक्ष्म-विवेचन की प्रतिभा भी है । रस की वस्तुनिष्ठता का प्रतिपादन इन्होंने भरतमुनि के वचनों की संगत और स्पष्ट व्याख्या करके जहाँ किया है वहाँ आधुनिक मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र और तर्कशास्त्र की कसौटियों पर भी

१. अभिनवगुप्त-निरूपित वस्तुनिष्ठ रस-स्वरूप से सम्बद्ध अभिमतों की जानकारी के लिए दे० अनुवादक का शोध-प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी और मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन' ।

इसे पूरा-पूरा कसने का प्रयत्न किया है। भरत के समान आचार्य वामन के काव्य-दर्शन पर भी इन्होंने जो चिन्तन किया है, वह भी परंपराभुक्त नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र की विकास-परंपरा में डा० बारलिंगे का नवीन चिन्तन एक महत्त्वपूर्ण संस्थान सिद्ध होगा। इनके लेख असंदिग्ध रूप से मौलिक और विचार-प्रवर्तक हैं। एक-डेढ़ हजार वर्ष से प्रचलित काव्य-शास्त्र संबन्धी हमारी पुरानी धारणाओं में इनके मौलिक लेखों से एक नई क्रान्ति उत्पन्न होगी, इसमें सन्देह नहीं है।

कुछ अनुवाद के बारे में

डा० बारलिंगे ने अपने लेख मुख्य रूप से अंग्रेजी तथा मराठी भाषा में ही लिखे हैं। एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना वैसे ही कोई सरल काम नहीं है। यहाँ तो मराठी, अंग्रेजी और हिन्दी इन तीन भाषाओं की आत्मा से साक्षात्कार का जटिल प्रश्न पग-पग पर उपस्थित हुआ है। अनुवाद-कार्य में पूर्ण सावधानी बरतने पर भी अशुद्धियों का रह जाना स्वाभाविक है, फिर भी भरसक प्रयत्न यही रहा है कि लेखक का मूल प्रतिपाद्य हिन्दी में यथावत् आ सके। मराठी-हिन्दी तथा अंग्रेजी शब्दों की अपनी-अपनी सीमा-शक्तियाँ हैं, अतः अनेक स्थानों पर मूल मराठी और अंग्रेजी शब्दों को भी रखना आवश्यक समझा गया है, इससे सन्देह के लिए अवकाश न रहे और मूल लेखक के साथ न्याय भी हो सके। इस ग्रंथ में डा० बारलिंगे के मूल मराठी ग्रन्थ 'सौन्दर्याचें व्याकरण' में संकलित अधिकांश लेखों का अनुवाद आ गया है। इसके अतिरिक्त भी इनके अनेक लेख इसमें संकलित किये गये हैं। सौन्दर्य सम्बन्धी लेखों के अनुवाद में कु० जया पुंडलीक ने विशेष सहयोग प्रदान किया है। इसके लिए अनुवादक उनका आभारी है। आशा है हिन्दी-जगत् अनुवाद की स्थूल भाषा के माध्यम को अधिक महत्त्व न देकर इसमें निहित प्रौढ़, गहन-गंभीर और मौलिक विचारों को समझने का पूरा-पूरा प्रयत्न करेगा।

रामजस कालेज,
दिल्ली–६

—मनोहर काळे

समर्पण

अपनी ही

सहधर्मचारिणी को

जो मेरे समस्त चिन्तन की

संप्रेरक हैं।

—लेखक

विषय-सूची

१ | सौन्दर्यवाचक विधानगत विधेय

'सौन्दर्य आणि साहित्य' नामक स्व० बा० सी० मर्ढेकर की पुस्तक को मराठी साहित्यशास्त्र की गंगोत्री ही मानना चाहिए। स्व० मर्ढेकर के पूर्व भी मराठी साहित्यशास्त्र के निर्माण के क्षेत्र में कुछ कम प्रयास नहीं हुआ है। स्व० वा० म० जोशी, श्री रा० श्री० जोग, श्री केळकर, डा० वाटवे, डा० मा० गो० देशमुख तथा प्रा० दि० के० बेडेकर ने मराठी साहित्यशास्त्र के क्षत्र में किंचित् भी सहयोग नहीं दिया, यह मेरे कथन का अभिप्राय नहीं है। किन्तु मर्ढेकर ने ही सर्वप्रथम साहित्य-शास्त्र की समस्याओं का शास्त्रशुद्ध विश्लेषण करके उसके प्रश्नों का तार्किक विवेचन किया है। सौन्दर्यशास्त्र, कला और साहित्य इनका संबन्ध और उससे उत्पन्न प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न यदि किसी ने किया है तो वे श्री० मर्ढेकर ही हैं। स्व० मर्ढेकर अपने आपको रसेल का शिष्य मानते थे, इस तथ्य की प्रतीति उनके लेखों से हो जाती है। रसेल के समान उन्हें भी शुद्ध, स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से लिखने की कला साध्य हो चुकी थी। निर्विवाद रूप से अंग्रेजी के समान ही मराठी भाषा पर भी उनका असाधारण प्रभुत्व था। इसी से मुझे लगता है कि, 'लाजिकल पाझिटिव्हिझम्' की विचारप्रणाली से ही श्री मर्ढेकर की विचारधारा को तीव्रता मिली होगी। वे अपने शास्त्रीय लेखों में कभी भी शिथिल पद्धति से शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे। प्रत्येक शब्द का प्रयोग करने से पूर्व मानो वे उसे शास्त्ररूपी शस्त्र से छीलते थे। इसी से उनकी लेखनशैली में जो समरूपता झलकती है, वह मराठी के किसी भी लेखक की लेखनशैली में नहीं दिखाई देती। अलौकिक बुद्धिमत्ता, असाधारण और शास्त्रपूत भाषाप्रभुत्व, कला और साहित्य में अभिरुचि होने के कारण ही स्व० मर्ढेकर अपने विचारों की शृंखला को गिने-चुने शब्दों में रख सके। यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं कि उनकी समस्त विचार-शृंखला शुद्ध है अथवा नहीं। संसार के अन्तिम सत्य के विषय

में कोई भी अन्तिम निर्णय नहीं दे सकता। इसी कारण दर्शन-क्षेत्र में उत्तर की अपेक्षा प्रश्न-प्रस्तुत करने का ही अधिक महत्त्व है। प्रश्न को प्रस्तुत करने से ही विषय के समस्त सूत्र स्पष्ट हो जाते हैं। इस दृष्टि से स्व० मर्ढेकर के मत त्रुटिपूर्ण हैं अथवा शुद्ध हैं. इसका निर्णय देना उनको महत्ता प्रदान करने का ढंग नहीं है। उनकी महत्ता इसी में है कि उन्होंने साहित्यशास्त्र के प्रश्न निःशंकरूप से पाठकों के सम्मुख रखे हैं। इसके अतिरिक्त सौन्दर्यशास्त्र की तार्किक सुसूत्रता दिखाने की शक्ति उनके पास है, जिसे आज तक कोई भी साध्य नहीं कर सका। इसी से मैंने उनकी पुस्तक को 'गंगोत्री' की संज्ञा दी है। भविष्य में मराठी साहित्यशास्त्र की गंगा यद्यपि सहस्र मुखों से साहित्यशास्त्र के सागर को मिलने वाली होगी तथापि वह 'मर्ढेकरहिं मारग पूछत' जाने वाली है, इस विषय में मुझे तिलमात्र भी आशंका नहीं है।

स्व० मर्ढेकर की एक इच्छा थी कि जिस सौन्दर्यशास्त्र का उन्होंने अपनी बौद्धिक सामर्थ्य और अभिरुचि से उद्‌घाटन किया है, उसके मूलभूत प्रश्नों के विषय में एक साधक-बाधक चर्चा का आयोजन किया जाए। स्व० मर्ढेकर ने पाँच-छः मास पूर्व ही मुझ से कहा था—'लोग या तो मेरी बहुत स्तुति करते हैं या मुझ पर कटु आक्षेप करते हैं, किन्तु जिस विषय को मैं प्रस्तुत करता हूँ उस पर तो कोई भी चर्चा नहीं करता।' उसी समय मेरी यह इच्छा हुई कि मैं स्व० मर्ढेकर के सौन्दर्य-शास्त्रीय मतों को विवेच्य विषय बना कर कुछ लिखूँ। मेरे दुर्भाग्य से मर्ढेकर जी के जीवित रहते हुए यह अवसर नहीं आ पाया। किन्तु फिर भी सौन्दर्यवाचक विधानों का स्वरूप किस प्रकार का होता है? इसे जानने का एक तुच्छ प्रयत्न मैं करूँगा, केवल यही सोचकर कि मृत्यु के उपरान्त भी उनके विचारों के संबन्ध में की गई चर्चा ही उनकी आत्मा के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

स्व० मर्ढेकर के अनुसार सौन्दर्यशास्त्र के प्रत्येक सिद्धान्त का आरम्भ सौन्दर्यवाचक विधान के स्वरूप को जाँचने से होना चाहिए। यह विधानार्थ किस प्रकार का होता है? किन्तु उससे पूर्व सामान्यतः विधान का क्या अर्थ है? उसके कौनसे पद होते हैं? उन पदों का क्या अर्थ होता है?—यह समझ लेना आवश्यक है। मन में आई हुई कल्पना

को शब्दों में रखने पर विधान तैयार होता है। विधान में दो पद होते हैं, एक उद्देश्य (Subject) और दूसरा विधेय (Predicate)। कोई भी विधान करते समय हम विधेय का उद्देश्य पर आरोपण करते हैं। यही आरोपित अर्थ विधानार्थ कहलाता है। पारिभाषिक शब्दावली में यह विधान उ–[1] सं–वि इस पदमाला से सम्बोधित किया जा सकता है। इस प्रकार के इस विधान में विधेय का पद सदा एक ही जाति का होता है, यह समझना ठीक नहीं है। 'दिल्ली-बम्बई के उत्तर में है' इस विधान में 'दिल्ली, बम्बई और उत्तर में' ये सम्बन्ध दिखाने वाले सम्बन्ध-वाचक एक प्रकार का विधानार्थ निश्चित करते हैं, दूसरी ओर 'यह पेन रंगीन है' इसमें 'पेन' और 'रंगीन' उद्देश्य-विधेय पद में स्थित सम्बन्धवाचक भिन्न ही अर्थ उत्पन्न करते हैं। 'ईश्वर सर्वसाक्षी है' और 'अजंता के चित्र सुन्दर हैं' ये विधान भी एक ही प्रकार के विधान नहीं हैं।

आइए अब सौन्दर्यवाचक विधान का स्वरूप देखें। किसी भी सौन्दर्यवाचक विधान में विधेय के स्थान पर 'सुन्दर' यह विशेषण आना आवश्यक है। अतः जब हम सौन्दर्यवाचक विधान करते हैं तब 'उ'—(उद्देश्य)—सं (संबन्ध)—सु (सुन्दर) ऐसा विधान हमें करना चाहिए, संक्षेप में 'उ–सं–सु' यह सौन्दर्यवाचक विधान का स्वरूप रहेगा, और 'अजंता के चित्र सुन्दर हैं', 'लता मंगेशकर की आवाज सुन्दर है', 'कमल का फूल सुन्दर है', 'कालिदास की कविता सुन्दर है' इत्यादि विधान 'उ–सं–सु' के उदाहरण-स्वरूप दिखाए जा सकेंगे। इसके विपरीत 'यह कुर्सी है', 'यह कुर्सी बेंत की है', 'यह कुर्सी बहुत काल तक टिकने वाली है', 'यह कलम रंगीन है' इत्यादि विधानों के विधेय पद सौन्दर्य-वाचक न होकर अस्तित्ववाचक या सत्तादर्शक हैं। अतः पहले विधानसंघ में 'वि=सु' (विधेय=सौन्दर्यवाचक) यह समीकरण रखा जा सकेगा, दूसरे विधानसंघ में 'वि=अ' (विधेय=अस्तिवाचक) यह समीकरण रखना पड़ेगा, और उसका सांचा 'उ–सं–अ' यही रहेगा। सौन्दर्य-

१. अंग्रेजी के Relation वाचक **R** के स्थान पर 'सं' इस चिह्न का प्रयोग किया गया है।

वाचक विधान के स्वरूप को जाँचते हुए निश्चित रूप से हमें विधेयपद के 'सु' अर्थात् सुन्दर विशेषण का क्या अर्थ है, इस 'सु' जातीय विशेषण का अन्य विधानों में विधेयपदी 'अ' जातीय विशेषण से क्या सम्बन्ध है, और इस 'सु'-जातीय विशेषण का उसी विधान के उद्देश्यपद से किस प्रकार का संबन्ध होता है, यह सब देखना होगा। विधान अस्तित्व-वाचक है अथवा सौन्दर्यवाचक, इसके निर्णय का आधार विधेय होने के कारण सौन्दर्यवाचक विधेय और अस्तित्ववाचक विधेय इनका परस्पर किस प्रकार का संबन्ध है, यह भी हमें देखना होगा। संक्षेप में, सुन्दर इस विशेषण का विश्लेषण करते हुए क्या वह अस्तित्ववाचक या सत्ता-दर्शक घटकों का बना हुआ होता है, यह देखना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है।

साधारणतया हम समझते हैं कि 'सुन्दर' सावयवमिश्र (Complex) विशेषण है। 'जो घटना अथवा वस्तु व्यक्ति में लयबद्ध संवेदना स्फुरण कराती है वह घटना अथवा वस्तु सुन्दर है' ऐसा विधान करते समय स्वर्गीय मर्ढेकर जी को भी 'सुन्दर' यह सावयवमिश्र विशेषण है, यही कहना अभि-प्रेत था।[1] किन्तु थोड़ा विचार करने पर कथित विधान सौन्दर्यवाचक विधान होते हुए भी 'सुन्दर' इस विशेषण की व्याख्या नहीं है, यह तत्काल ज्ञात हो जाएगा। यदि सौन्दर्यवाचक विधान में 'सुन्दर' विधेय के स्थान पर होता तो 'सुन्दर' इस विशेषण की व्याख्या करते हुए वह उद्देश्य के स्थान पर होना चाहिए था। अन्यथा व्याख्या और उदाहरण में उलझन पैदा हो जाएगी। कम से कम अंग्रेजी में तो What is beautiful यह प्रश्न बहुत उलझा हुआ है, क्योंकि इस प्रश्न के लिए This is beautiful अथवा Beautiful is such and such ये दोनों उत्तर सम्भव हैं। इनमें से पहला उत्तर यह सौन्दर्यवाचक विधान है और उसमें 'सुन्दर' को विशे-षण माना गया है। किन्तु जब तक सुन्दर का क्या अर्थ है, इसका उत्तर हम नहीं देते, उसी का मतलब यह हुआ कि What is beautiful इस प्रश्न का Beautiful is such and such इस प्रकार का उत्तर हम नहीं देते तब तक This is beautiful (उ–सं–सु) इस प्रकार का विधान हम

१. श्री मर्ढेकर के सौन्दर्य-सिद्धान्त की जानकारी के लिए दे० 'आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन' (हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई)

नहीं बना पायेंगे। किन्तु सुन्दर का क्या अर्थ है इस प्रश्न पर हम जैसे-जैसे विचार करते जाते हैं, वैसे-वैसे सुन्दर का अर्थ समझना अधिकाधिक कठिन होता जाता है। 'सुन्दर' का कभी-कभी लोग 'आनन्ददायक, सुखदायक' ऐसा अर्थ निकालते हैं। किन्तु 'सुन्दर' का अर्थ सुखदायक या आनन्ददायक माना जाए तो जहाँ-जहाँ हम 'सुन्दर' विशेषण का प्रयोग करते हैं वहाँ-वहाँ 'आनन्ददायक' 'सुखदायक' ये विशेषण लगा सकें और इन विशेषणों के प्रयोग करने पर 'सुन्दर' विशेषण से जो अर्थ हमें अभिप्रेत था वही अर्थ इनसे अभिप्रेत होना चाहिए। किन्तु जो जो सुन्दर है वह सुखदायक है, यह थोड़ी देर के लिए मान लेने पर भी सुन्दर=सुखदायक मानना बहुत कठिन है। क्योंकि ऐसी स्थिति में जो कुछ सुखदायक है उसे सुन्दर मानना पड़ेगा। शतरंज का खेल, ताश का खेल, शराब का नशा यह सब सुन्दर कहलायेंगे। किन्तु ऐसा समझना बहुत भ्रामक होगा।

'सुन्दर' का अर्थ 'सुखदायक' जिस प्रकार हम नहीं मान सकते उसी प्रकार 'सुन्दर' का विभाजन करके यह सम् (संवाद), वि (विरोध) और स(समतोल)इन अवयवों का बना है, यह भी सिद्ध नहीं कर सकते।[1] सु= सम्+वि+स ऐसा समीकरण हम नहीं कर सकेंगे। प्रत्येक सुन्दर वस्तु में संवाद, विरोध और समतुल्यता होती है यह मान लेने पर भी वैसा निरूपण नहीं कर सकेंगे। क्योंकि जहाँ-जहाँ हम 'सुन्दर' विशेषण का प्रयोग करते हैं वहाँ केवल संवाद, विरोध और समतुल्यता ही हमें अभिप्रेत नहीं होती। संवाद, विरोध और समतुल्यता सुन्दर न होकर 'सुन्दर' विशेषण के दर्शक हैं।

किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि सुन्दर वस्तु की खोज करते हुए 'सुन्दर' को विशेषण मान लेने के कारण संवाद, विरोध और समतोल लयों के द्वारा उसे खोजा जा सकता है। 'उ–सं–सु' यह सौन्दर्य-वाचक विधान का स्वरूप होता है ऐसा ऊपर कहा गया है। इनमें से 'उ' की उ१, उ२, उ३...... उन, ऐसी सूची बनाकर उन पर 'सु' को आरोपित करना सौन्दर्यशास्त्र का मुख्य कार्य है। अतः जिस-जिस 'उ' पर 'सु' का आरोप किया जाएगा वे सब 'उ' सुन्दर होंगे। इस प्रकार के

१. श्री मढेंकर ने यही सिद्ध किया है, दे० परिशिष्ट–१

'उ' को हमारी सुविधा के लिए हम उ१ उ२ उ३ के स्थान पर सु१ सु२ सु३ इन चिह्नों से संबोधित करते है। उससे कोई भी सौन्दर्यवाचक विधान 'सु१–सं–सु' के सांचे का ही बनता है। किन्तु ऐसे सु१ सु२ सु३ पद 'उ' की जाति के हैं यह ध्यान में रखना आवश्यक है। हम जब 'अजंता के चित्र सुन्दर हैं' 'लता मंगेशकर की आवाज सुन्दर है' 'कमल का फूल सुन्दर है' इत्यादि विधान करते हैं और उनकी सुन्दरता के लिए संवाद, विरोध और समतुल्यता की साक्षी देते हैं, तब हम 'सु' इस विधेयवाचक विशेषण का विश्लेषण नहीं करते वरन् सु१ सु२ सु३ इन उद्देश्यवाचक वस्तुओं का विश्लेषण करते हैं। इस कारण संवाद, विरोध और समतुल्यता इत्यादि 'सुन्दर' इस विशेषण के भाग न होकर सुन्दर वस्तु के भाग होते हैं। अतः 'सुन्दर' का विश्लेषण करते हुए यदि हम सु१ सु२ सु३... .. सुन इस 'उ' वर्गीय वस्तुओं का विश्लेषण करने लगें और इसी विश्लेषण को यदि हम 'सुन्दर' इस विशेषण का विश्लेषण समझने लगें तो क्या वह भूल न होगी ? संवाद, विरोध और समतुल्यता किसी वस्तुघटक पर अवलम्बित होते हैं। उनसे वस्तु में सौन्दर्य तो अवश्य उत्पन्न होता है किन्तु इस आधार पर सुन्दर=संवाद+विरोध+समतुल्यता अथवा संवाद×विरोध×समतुल्यता ऐसा कहना सुसंगत नहीं होगा।

इस पर यह प्रश्न उठ सकता है कि 'अमुक', 'अमुक' सुन्दर है इस प्रकार के जिस समय हम विधान करते हैं उस समय इन विधानों के 'सुन्दर' इस विधेय के पद से हमें एक ही अर्थ अभिप्रेत होता है, ऐसी बात नहीं है। 'सुन्दर' अस्तित्ववाचक या सत्तादर्शक नहीं है। भाषा की सुविधा के लिए विभिन्न शब्दों का सम्बन्ध दिखाने के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला यह एक संक्षिप्त चिह्न है। सौन्दर्यवाचक विधानों के विवेय से हमें केवल एक ही अर्थ अभिप्रेत नहीं होता। 'सब्जी सुन्दर बनी है' इस विधान में सुन्दर इस पद का एक अर्थ (स्वादिष्ट बनी है), 'गाना सुन्दर था' इसमें दूसरा अर्थ (कर्णमधुर था), 'फूल सुन्दर है' इसमें तीसरा अर्थ (देखने में आकर्षक है), संक्षेप में सुन्दर यह विशेषण संबंधवाचक विशेषण है और उसका अस्तित्व विभिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध में होता है, यही कथन का अभिप्राय है। इसी स्थापना में हम सृष्टिगत सौन्दर्य और कलाकृतिगत सौन्दर्य इस प्रकार के वर्ग बना लेते

हैं। यह सत्य है कि 'सुन्दर' शब्द का हम एक से अधिक अर्थ में कई बार प्रयोग करते हैं, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कोई भी विधान करते समय संक्षिप्त चिह्न के रूप में 'सुन्दर' शब्द का हम प्रयोग करते हैं। विभिन्न सौन्दर्यवाचक विधानों में यद्यपि हम 'सुन्दर' इस पद का उपयोग करते हैं तथापि उससे इतना ही सिद्ध होगा कि विभिन्न घटनाओं में सम्बन्ध दिखाये बिना 'सुन्दर' इस विशेषण का अर्थ-बोध नहीं होता। उससे यह सिद्ध नहीं होना चाहिए कि 'सुन्दर' विभिन्न घटकों या तत्त्वों को संक्षेप में निरूपित करने के उद्देश्य से तैयार की गई एक पहेली है। इसके विपरीत विभिन्न घटनाओं को जब हम एक ही विशेषण से सम्बोधित करते हैं तब उन घटनाओं में विशिष्ट प्रकार का एक ही अर्थ (सुन्दरता) अपेक्षित है, यह मानने के लिए भी अवकाश होना चाहिए।

इस प्रकार 'सुन्दर' इस विशेषण की व्याख्या करते हुए हम जान जाएंगे कि 'सुन्दर' की व्याख्या नहीं हो सकती अथवा उसका विश्लेषण (एक विशिष्ट प्रकार के विश्लेषण के अतिरिक्त) नहीं हो सकता। किन्तु 'सुन्दर' विशेषण की व्याख्या नहीं की जा सकती इतना भी यदि हम जान लें तो भी यह कहना चाहिए कि हमें बहुत बड़ा लाभ हुआ। 'सुन्दर' इस विशेषण की व्याख्या क्यों नहीं की जा सकती ? कारण स्पष्ट है। केवल सावयव (Complex) विशेषण की ही व्याख्या की जा सकती है। व्याख्या करते हुए हम विशेषण के एक से अधिक टुकड़े बनाकर उन्हें पुनः जोड़ते हैं। 'सुन्दर' इस विशेषण की व्याख्या हम इसलिए नहीं कर पाते क्योंकि 'सुन्दर' एक विशिष्ट अर्थ में निरवयव है, सावयव नहीं है। कोई वस्तु संवाद, विरोध, समतोललयनिष्ठ होने के कारण सुन्दर है ऐसा जब हम कहते हैं तब भी सुन्दर-संवाद-विरोध-समतोल-लय ऐसा समीकरण हमें निरूपित नहीं करना होता, यह भी हमने ऊपर देख ही लिया है, अन्यथा संवाद-विरोध-समतोलल-लय यह शब्दसमुच्चय 'सुन्दर' इस विशेषण का समानार्थी हो जाता। जब कोई वस्तु संवाद-विरोध-समतोल-लयनिष्ठ होने के कारण सुन्दर है ऐसा हम विधान करते हैं तब सुन्दर इस विशेषण का प्रयोग हम इस प्रकार करते हैं मानो हम इसे पहले से ही जानते हैं। संवाद-विरोध-समतोल-लय से

सुन्दर वस्तुओं का निर्माण होता है, सुन्दर विशेषण का नहीं। तात्पर्य यह है कि सुन्दर कम से कम एक विशिष्ट अर्थ में तो निरवयव (Simple) पद्धति का ही विशेषण है।

यह हमने देखा कि 'सुन्दर' यह एक से अधिक अवयवों का बना हुआ नहीं होता है। किन्तु वह पीला, काला, भारी, हलका इस प्रकार का अस्तित्ववाचक या सत्तादर्शक विशेषण नहीं है। अन्यथा सौन्दर्य-वाचक विधान और अस्तित्ववाचक विधान में कुछ अन्तर ही न होता। इसलिए 'सुन्दर' किसी एक भिन्न जाति का और अस्तित्ववाचक विशेषण से एक भिन्न प्रकार का विशेषण हमें मानना पड़ता है। इसी भिन्नता के गर्भ में अस्तित्ववाचक विधान और सौन्दर्यवाचक विधान की भिन्नता निहित है। अस्तित्ववाचक विधान के सम्बन्ध में बोलते हुए 'यह मेज चौकोनी है' और 'यह चौकोनी मेज है' ऐसे दोनों प्रकार के विधान हम सहसा करते हैं। 'यह मेज चौकोनी है' इस विधान में 'यह मेज' यह उद्देश्य पद और 'चौकोनी है' यह विधेय पद है और यह 'है' इस विधेयवाचक संबंध से जोड़ा गया है। इसके विपरीत 'यह चौकोनी मेज है' इसमें 'यह चौकोनी मेज' यह उद्देश्य का पद है और 'है' यह एकमात्र विधेय का और विधेयवाचक संबंध का पद है। किन्तु ऐसा होने पर भी 'यह मेज चौकोनी है' तथा 'यह चौकोनी मेज है' यह दोनों प्रकार के विधान किए जा सकते हैं क्योंकि दोनों विधानों का अर्थ एक ही है।

भाषा का स्वरूप धारण करने पर यद्यपि 'वस्तुज्ञान' उद्देश्य और विधेय में विभाजित होता है, तथापि ज्ञानरूप में तो वह अविभक्त एवं एक संवेदनात्मक होता है। इस प्रकार से उद्देश्य और विधेय से एक ही वस्तुज्ञान प्रतीत होता है। किन्तु सौन्दर्यवाचक विधान का यथार्थ आकार इससे भिन्न होता है। सामान्य ज्ञान में जो विधान (या विधान का अर्थ) होता है वही सौन्दर्यवाचक विधान में उद्देश्य का रूप धारण करता है। इस उद्देश्य का विधेय 'सुन्दर' (या असुन्दर) यह एकमेव विशेषण होता है। अतः यह सुन्दर वस्तु है, ऐसा प्रयोग एक तो नहीं करना चाहिए, यदि ऐसा किया ही जाय तो उसे सौन्दर्यवाचक विधान नहीं समझना चाहिए। ऐसे प्रयोग में सुन्दर विशेषण का 'पीला', 'काला' जैसे अस्तित्व या सत्तादर्शक विशेषणों जैसा प्रयोग किया गया है। किन्तु सभी विधान

इसी प्रकार के नहीं होते। 'यह मेज चौकोनी है' और 'यह चौकोनी मेज है' यह जिस प्रकार हम कहते हैं उसी प्रकार 'यह वस्तु सुन्दर है' और 'यह सुन्दर वस्तु है' ऐसा प्रयोग भी हम करते हैं। किन्तु यही आपत्ति का मूल है। मैं सोचता हूँ कि ऐसे ही प्रयोग में से 'सुन्दर' यह वस्तु का भाग है, यह कल्पना रूढ़ बन जाती है। यह 'वस्तु' 'सुन्दर' है यह सौन्दर्यवाचक विधान है। इसके विपरीत 'यह सुन्दर वस्तु है' इस विधान में यद्यपि सुन्दर यह विशेषण आ गया है तथापि यह अस्तित्ववाचक विधान है। 'यह वस्तु सुन्दर है' ऐसा सौन्दर्यवाचक विधान मान लेने पर ही हम उसे इस प्रकार से निरूपित कर सकेंगे अन्यथा नहीं। सौन्दर्यशास्त्र में ('सुन्दर' इस विशेषण का स्वरूप निश्चित होने पर) हमें (यह वस्तु सुन्दर है) इस प्रकार के विधान तैयार करने पड़ते हैं। किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि सभी विधान 'सुन्दर' इस विधेय-विषयक न होकर 'सुन्दर' यह विशेषण जिस उद्देश्य पर आरोपित किया जाता है उस उद्देश्य से सम्बन्धित होते हैं। 'यह वस्तु सुन्दर है' ऐसा जब हम विधान करते हैं तब उस वस्तु का हम चाहे कितना ही विश्लेषण क्यों न करें किन्तु उसमें से 'सुन्दर' यह विशेषण नहीं मिल सकता, क्योंकि यह अस्तित्ववाचक या सत्तादर्शक नहीं है, अतः वस्तु का रंग अथवा आकार जिस प्रकार हम वस्तु में दिखा सकते हैं उस प्रकार 'सुन्दर' यह गुण नहीं दिखाया जा सकता। जिस प्रकार वस्तु की लम्बाई, चौड़ाई, आकार, रंग, ध्वनि, स्पर्श ये सब संवेदनधर्मी और वस्तुनिष्ठ होते हैं उस प्रकार का 'सुन्दर' विशेषण नहीं होता। जिस प्रकार वृक्ष के आश्रय से बढ़ने पर भी किसी लता की वृक्ष से भिन्नता बनी ही रहती है उसी प्रकार 'सुन्दर' यह विशेषण वस्तु की विभिन्न संवेदनाओं के आश्रय से यद्यपि अस्तित्व में आता है, तथापि उसकी भिन्नता बनी ही रहती है।

अब तक की हमारी चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है कि—(१) सौन्दर्यवाचक विधान का स्वरूप देखते हुए हमें प्रथम इस विधान के विधेयपद में स्थित 'सुन्दर' इस विशेषण का स्वरूप देखना आवश्यक हो जाता है। (२) इस विशेषण को एक विशिष्ट अर्थ से पृथक् किया जाय तो उसे निरवयव (Simple) मानना पड़ता है। (३) जब हम

'सुन्दर' इस विशेषण का विश्लेषण करने लगते हैं तो यह विश्लेषण उद्देश्यपदीय वस्तु का होता है न कि 'सुन्दर' का। पारिभाषिक शब्दों में यदि कहना चाहें तो हम सु१, सु२, सु३,—सुन इस 'उ' वर्गीय वस्तु का विश्लेषण करते हैं, और इसी विश्लेषण को हम 'सु' का विश्लेषण मानते हैं। किन्तु ये 'उ' वर्गीय सभी वस्तुएँ अस्तित्ववाचक होती हैं, इसके विपरीत 'सु' अथवा 'सुन्दर' यह अनिवार्यतः अस्तित्व-वाचक नहीं होता। तात्पर्य यह कि " 'उ' 'सु' है" अथवा " 'सु १' 'सु' है" इस प्रकार का सु १,–सं–सु इस जाति का विधान 'उ–सं–अ' (अस्तित्ववाचक) इस विधान की अपेक्षा मूलतः भिन्न है, यह मानना पड़ता है।

यहाँ एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'उ–सं–अ' और 'सु१–सं–सु' इस प्रकार के एक अस्तित्ववाचक और एक सौन्दर्यवाचक-विधान लिए जाएँ तो क्या उनमें कोई कार्यकारण अथवा तर्क-संबन्ध होता है? उदाहरणार्थ, क्या इस प्रकार का हम दूसरा गणित बना सकते हैं?

(१) सु १, –सं–सु

∵ उ–सं अ

अथवा

(२) उ–सं–अ

∴ सु १, –सं–सु

सकृत्दर्शन से कोई भी जान जाएगा कि उपर्युक्त गणित त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि इस गणित के अनुसार जो कुछ है वह सुन्दर है और जो कुछ सुन्दर है उसका अस्तित्व में होना अनिवार्य है। किन्तु ऐसा होने पर सुन्दर और असुन्दर में भेद न रह जाएगा और सौन्दर्यशास्त्र भी निकम्मा माना जायेगा। अभिप्राय यह कि किसी भी अस्तित्ववाचक या सत्तादर्शक विधान में से कोई भी सौन्दर्यवाचक विधान तर्कित नहीं किया जाना चाहिए। यह ठीक है कि एक शास्त्र की सिद्धि के लिए दूसरे शास्त्र की सहायता नहीं लेनी चाहिए। फिर भी एक में कभी-कभी ऐसे प्रमाण मिल जाते हैं जिससे दूसरे सिद्धान्त को दृढ़ बनाया जा सकता है, इसलिए नीतिशास्त्र के उदाहरणों से उपर्युक्त कथन की

पुष्टि का यहाँ प्रयत्न किया जाता है। 'मैं स्वार्थी हूँ, इसलिए मुझे स्वार्थी होना चाहिए अथवा मेरा स्वार्थी होना अच्छा है', 'वह चोरी करता है, इसलिए उसे चोरी करनी चाहिए, अथवा उसका चोरी करना अच्छा है', 'अमुक व्यक्ति के मन में आत्महत्या का विचार आया, इसलिए उसे आत्महत्या करनी चाहिए अथवा आत्महत्या करना अच्छा है', इत्यादि उदाहरणों में प्रत्येक युग्म में पहला विधान अस्तित्ववाचक और दूसरा नीतिवाचक है, साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इसमें क्रम प्राप्त तार्किक शृंखला सदोष है। अस्तित्ववाचक विधान में से नीतिवाचक विधान का स्फुरण हो सकता है किन्तु उसे तर्कित नहीं किया जा सकता। ऐसा तर्क सदोष होता है। यही दोष तब भी उपस्थित हो जाता है जब हम अस्तित्ववाचक विधान से सौन्दर्यवाचक विधान की ओर जाते हैं।

यदि मेरी उपर्युक्त विचारशृंखला सदोष नहीं तो हम एक और विधान बनाकर देख सकते हैं। 'सुन्दर' यह विशेषण अस्तित्ववाचक न होने के कारण अन्य अस्तित्ववाचक विशेषणों के सम्बन्ध में हम जो कुछ कह सकते हैं वह सब 'सुन्दर' विशेषण पर भी लागू होता है यह समझना अनुचित है। परिणामतः अस्तित्ववाचक विधान के संबन्ध में वास्तववादी और विज्ञानवादी का परस्पर जिस प्रकार का कलह उत्पन्न होता है, उस प्रकार का सौन्दर्यवाचक विधानार्थ के सम्बन्ध में नहीं होना चाहिए। उदाहरण के लिए 'यह मेज पीली है' ऐसा विधान करते समय यदि हम यह कह दें (अर्थात् वास्तववादी दृष्टि से) कि पीलापन यह मेज में है, पीलेपन के (अथवा वस्तुसृष्टि के तत्समान रंगों के) अस्तित्व के लिए मेरी अथवा मेरे ज्ञान की जरा भी आवश्यकता नहीं तो बात दूसरी है, परन्तु इसी प्रकार 'यह मेज सुन्दर है' ऐसा कहते हुए 'सुन्दर' के सम्बन्ध में अथवा उपर्युक्त सौन्दर्यवाचक विधान के सम्बन्ध में भी वही बात दुहराना सही नहीं है। यदि 'सुन्दर' अस्तित्ववाचक या सत्तादर्शक विशेषण नहीं है तो उसे एक अस्तित्ववाचक विषय का ही एक शारीरिक भाग मानना कठिन है। अतः मैं सोचता हूँ कि प्रत्येक सच्चे सौन्दर्य-विधान में अनुभवनिष्ठता होना अपेक्षित है। श्री मर्ढेकर की भाषा में कहा जाए तो सौन्दर्यवाचक विधान केवल अनुभवनिष्ठ ही

हो सकता है। जैसा कि स्व० मर्ढेकर ने कहा है[1] तदनुसार हम वि१ और वि२ इस प्रकार के विधान बनाएँ और दोनों में ही यद्यपि 'सुन्दर' यह पद है तथापि एक ही विधान सौन्दर्यवाचक होता है और दूसरा ज्ञानवाचक। इसका कारण भी यही है : एक अनुभवनिष्ठ होता है और दूसरा नहीं। सौन्दर्यवाचक विधान अनुभवनिष्ठ होता है, 'सुन्दर' यह विशेषण इस अनुभव से उत्पन्न होता है यह मान लेने पर ही श्री मर्ढेकर उलझन में पड़ जाते हैं। श्री मर्ढेकर का कथन है कि समस्त सौन्दर्य-वाचक विधान 'अनुभवनिष्ठ' होते हैं, इसलिए उन्हें 'अहंकेन्द्री' होना चाहिए, परन्तु एक ही अहं के व्यक्तिगत सत्य के आधार पर हम किसी भी वस्तुनिष्ठ सर्वसामान्य ऐसा विधान नहीं कर सकते। 'मुझे हिडिंबा सुन्दर लगती है' ऐसा यदि कोई कहे तो हम सुन लेते हैं। किन्तु उस पर से यदि कोई 'हिडिंबा सुन्दर है' कहे तो मानना असम्भव है।[2] यदि शास्त्र-निर्माण करना है तो वास्तविक वस्तुनिष्ठ, अहंनिरपेक्ष, 'क्ष सुन्दर है' इस प्रकार का 'सौन्दर्यवाचक विधान' बनाना भी सम्भव होना चाहिए। इससे प्रश्न उठता है कि अनुभवरहित स्वतन्त्र अस्तित्व सौंदर्य को मिल सकता है अथवा नहीं ? क्या सौन्दर्य का अस्तित्व अनुभव पर अपरिहार्य रूप से अवलम्बित है ? इस पर विचार करते हुए स्व० मर्ढेकर सौन्दर्यशास्त्र के अस्तित्व के लिए अनुभवनिरपेक्ष सौन्दर्य की आवश्यकता है ऐसा समझने लगते हैं और परिणामतः वे यह मान लेते हैं कि सौंदर्य वस्तु में होता है। किन्तु सौन्दर्य को अनुभवनिष्ठ और साथ ही अनुभव-निरपेक्ष मानने से एक पहेली-सी उत्पन्न हो गई है। ज्ञानप्रक्रिया की सदृश किन्तु तद्भिन्न और संवेदन प्रक्रिया से उत्पन्न होने वाली एक नवीन सौन्दर्य-प्रक्रिया उन्हें माननी पड़ी है। साथ ही लयतत्त्व का अर्थात् सुसंगति, विरोध और समतुल्यता का आश्रय लेकर लयतत्त्व के अनुसार बने हुए संवेदनों के संवेदन का ही अर्थ सौन्दर्य, ऐसी सौन्दर्य की व्याख्या उन्हें करनी पड़ी है। जब हम पीला रंग देखते हैं तब पीला रंग देखना अहंनिरपेक्ष नहीं होता, किन्तु पीला रंग तो अहंनिरपेक्ष हो सकता है। और इसी आधार पर वस्तु के पीलेपन की कल्पना का हम वस्तु पर

---

१. दे० सौन्दर्य आणि साहित्य, पृ० २
२. दे० सौंदर्य आणि साहित्य, पृ० ६

आरोपण करते हैं। इस प्रकार संवेदन ज्ञान में हम अहंसापेक्ष से अहं-निरपेक्ष की ओर अग्रसर होते हैं। स्व० मर्ढेकर ने इसी रसेल और मूर-प्रणीत प्रक्रिया का (Sensum और Sensation के भेद का) अपनी सौन्दर्यविषयक स्थापना के लिए उपयोग कर लिया है। किन्तु थोड़ा-सा विचार करने पर ज्ञात होगा कि श्री मर्ढेकर का विश्लेषण सौन्दर्यवाचक विधान के उद्देश्य का है, विधेय का नहीं। इस विश्लेषण से हम 'सुन्दर' का अर्थ न समझकर सुन्दर वस्तु का अर्थ समझते हैं। और सौन्दर्य-शास्त्र का विवेचन करते समय 'सुन्दर' का क्या अर्थ है, यह प्रथम महत्त्व-पूर्ण प्रश्न है। यह हम ऊपर देख चुके हैं कि किसी भी अस्तित्ववाचक विधान से हम सौन्दर्यवाचक विधान की तर्कना नहीं कर सकते। किन्तु श्री मर्ढेकर के प्रस्तुत प्रयत्न का तात्पर्य सौन्दर्यवाचक विधान को अस्तित्ववाचक विधान से उत्पन्न मानना पड़ेगा या 'सुन्दर' यह पद अस्तित्ववाचक पदों से बना हुआ होता है, यह स्वीकार करना पड़ेगा। परिणामतः सौन्दर्यशास्त्र का विश्लेषण करते हुए श्री मर्ढेकर को उद्देश्य और विधेय की अनजाने भूल तो नहीं हुई, यह शंका उत्पन्न होती है।

मुझे लगता है कि 'सौन्दर्य का अस्तित्व' यह शब्द-प्रयोग भ्रम उत्पन्न करने वाला है। और भाषा की दुर्बलता के कारण ऐसे शब्द-प्रयोग करने पड़ते हैं। 'सौंदर्य का अस्तित्व'—इसका एक अर्थ में सौन्दर्य का अस्तित्व होता है; किन्तु दूसरे अर्थ में सौन्दर्य यदि अस्तित्ववाचक नहीं तो सौंदर्य का अस्तित्व क्या वदतोव्याघात न होगा ? 'क्ष' सुन्दर है इस विधान में 'क्ष' इस उद्देश्य का पद सर्वदा अस्तित्ववाचक होता है। इसीलिए (वास्तववादी दृष्टिकोण से) अनुभवनिष्ठ होना आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत 'सुन्दर' यह विधेय पद अस्तित्ववाचक नहीं होता, किन्तु जब हम 'सौंदर्य' का अस्तित्व ऐसा विधान करने लगते हैं तब वह उद्देश्य अथवा विधेय दोनों में से किसी एक के भी बारे में हो सकता है। एक स्थान पर (सौंदर्य = 'सुन्दर' इस विशेषण की भाववाचक संज्ञा, जिसका वस्तुतः अस्तित्व ही नहीं होता) वह अनुभवनिष्ठ होता है।

सौंदर्य अनुभवनिष्ठ होने के कारण उसे अहंकेन्द्री होना चाहिए। यह श्री मर्ढेकर की उलझन है। किन्तु वास्तव में यह कोई उलझन नहीं है। सौंदर्यशास्त्र का निर्माण करते हुए अहंनिरपेक्ष सौंदर्यवाचक विधान

करना अपेक्षित है। प्रस्तुत स्व० मर्ढेकरजी का कथन कोई भी स्वीकार कर लेगा। किन्तु इसके लिए सौंदर्य को वस्तु का शारीरिक भाग किस कारण माना जाए ? श्री मर्ढेकर का 'वस्तुनिष्ठ' शब्द कुछ उलझन पैदा करने वाला है। हो सकता है वह अंग्रेज़ी शब्द (Objective) का अनुवाद हो। अँग्रेजी में यह शब्द दो भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है : (१) एक अर्थ में समस्त अहंनिरपेक्ष प्रमेय Objective होते हैं। परंतु उनमें निहित सत्य (विधेय) का वस्त्वन्तर्गत होना आवश्यक नहीं है। 'वस्त्वन्तर्गत' न रहने वाले अनेक सत्य Objective होते हैं। इस आशय से 'क्ष सुन्दर है' यह विधान अहंनिरपेक्ष और Objective हो सकता है। जिस प्रमेय के विषय में लोग एक ही संदर्भ में अनुकूल किंवा प्रतिकूल विचार व्यक्त करते हैं वे सब प्रमेय अहंनिरपेक्ष और Objective हो सकते हैं। सौंदर्यशास्त्र के निर्माण के लिए इस प्रकार के सौंदर्य-वाचक विधान बन सकेंगे या नहीं यही देखना आवश्यक है। यदि वास्तव में 'सुन्दर' यह अस्तित्ववाचक विशेषण नहीं है तो अहंनिरपेक्ष और Objective इस प्रकार के सौंदर्यवाचक विधान किए जा सकेंगे। (२) किन्तु Objective शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ में भी किया जा सकता है। इसके अनुसार Objective अर्थात् वस्तु में स्थित, वस्त्वन्तर्गत, वस्तुनिष्ठ, अस्तित्ववाचक अर्थ निकलेगा। Objective इस शब्द का प्रस्तुत अर्थ निकालने के कारण ही स्व० मर्ढेकर को सौंदर्य केवल वस्तु में होता है इस प्रकार की भूमिका अपनानी पड़ी होगी। और 'सुन्दर' इस विधेय के स्थान पर स्थित विशेषण पर विचार करते हुए उद्देश्य के स्थान पर स्थित अस्तित्ववाचक आशय का विश्लेषण करने का उनका मानस हुआ होगा। किन्तु वास्तववादी दर्शन अपनाने पर भी सुसंगति के लिए सौंदर्य की इस प्रकार की मीमांसा करना मेरे विचार में अपेक्षित नहीं है। अहंनिरपेक्ष सौंदर्य को वस्तु का शारीरिक घटक न मानते हुए भी सिद्ध किया जा सकता है और वह वास्तववादी तत्त्वज्ञान या दर्शन के अनुकूल हो सकता है। सौंदर्य वस्त्वन्तर्गत हो अथवा चाहे जैसा हो उसका सौंदर्यशास्त्र पर अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिणाम होने में कोई कारण दिखाई नहीं देता। क्योंकि सौंदर्यवाचक विधान के उद्देश्य का विश्लेषण करके उसका संग्रह करना और इस अस्तित्ववाचक या

सत्तादर्शक आशय का विश्लेषण करना और वर्गक्रम लगाना यह सौंदर्य-शास्त्र का महत्त्वपूर्ण भाग है। इस विषय में स्व० मर्ढेकर द्वारा दी हुई विचारधारा सौंदर्य-साहित्यशास्त्रज्ञ के लिए चिरकाल तक उपयुक्त रहेगी। किन्तु इस प्रसंग में इस तथ्य को ध्यान में रखना नितांत आवश्यक है कि हम 'सुन्दर' इस विशेषण का विश्लेषण नहीं करते और 'सुन्दर' यह विशेषण अस्तित्ववाचक या सत्तादर्शक नहीं है।

२ | सौन्दर्यवाचक विधानगत विधेय

मेरे मित्र श्री नरहर कुरुंदकर की गणना मराठी के नामांकित समालोचकों में करनी पड़ेगी। विशेषतः उनका सौन्दर्यशास्त्र का अध्ययन इतना गहरा है कि उन्होंने इस शास्त्र के किसी नियम का कोई विधान किया हो तो उस संबन्ध में जरा-सा सँभलकर ही बोलना पड़ेगा। हाल ही में उन्होंने मराठी साहित्य संघ के अधिवेशन में और बाद में 'मराठवाड़ा' के दिवाली अंक में 'स्व० मर्ढेकर और सौन्दर्यवाचक विधान का स्वरूप' (सत्यकथा, जुलाई १९५६) इस मेरे लेख के कुछ अंशों की चर्चा की है। उन्होंने अनेक तत्त्व उपस्थित किए हैं। उन पर क्रमशः यहाँ विचार करेंगे।

विश्लेषण-पद्धति

मेरे विचार से 'सुन्दर' यह निरवयव केवल (Un-analysable and Simple) विशेषण है। मेरा प्रस्तुत विधान ग़लत है यह उनका पहला कथन है। हो सकता है कि वे ठीक हों। यदि 'सुन्दर' यह विशेषण निरवयव नहीं है तो वह दो अथवा अधिक अवयवों का बना हुआ होगा। निश्चित रूप से यह प्रश्न उठेगा कि वे कौनसे अवयव हैं। किन्तु यह विषय कुछ देर के लिए हम अलग रखते हैं। 'सुन्दर' सावयवमिश्र विशेषण है ऐसा कहने में आप यह 'चौकोन वृत्त है' ऐसा कहने की त्रुटि नहीं कर रहे हैं, यह मैं मानता हूँ। इसलिए 'सुन्दर' सावयवमिश्र हो सकता है। परन्तु श्री कुरुंदकर ने इस लेख में उपस्थित किया हुआ असली तत्त्व 'सुन्दर' **इस विशेषण के केवलत्व का** न होकर कुल मिलाकर स्पष्टीकरण अथवा विश्लेषण-पद्धति का है। कोई संज्ञा, वस्तु अथवा विशेषण 'केवल' हो भी सकता है। **किन्तु वह 'केवल' है इस प्रकार कहने से कुछ भी सिद्ध नहीं होता, यही उनका मुख्य प्रतिपाद्य है।**[1] वे संभवतः यह चाहते हैं कि एक सावयव वस्तु इतने निरवयव घटकों की बनी हुई है, ऐसी जो हमारी सामान्य स्पष्टीकरण की पद्धति है उसे छोड़कर स्पष्टी-

१. दे० परिशिष्ट–२

करण की कोई अन्य पद्धति अपनाई जाय। किन्तु स्पष्टीकरण की ऐसी कोई भी पद्धति तर्कशास्त्र नहीं जानता। इससे जो तत्वज्ञ ऐसी तर्कपद्धति को भला-बुरा कहते हैं वे तर्क का मार्ग न खोजकर साक्षात्कार के मार्ग को खोजते हैं और केवल, केवल संज्ञा ही नहीं अपितु सम्पूर्ण ब्रह्मांड ही हमें साक्षात्कार से ज्ञात होता है ऐसा उनका दृष्टिकोण बन जाता है। किन्तु इस प्रकार यद्यपि उन्हें ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाता है तथापि उस ब्रह्म के स्वरूप का वाणी से वर्णन करना संभव नहीं होता। किन्तु यह तर्कातीत साक्षात्कार की पद्धति छोड़ दी जाय तो जिस पद्धति में सावयव विशेषण का विश्लेषण करने के लिए निरवयव केवल संज्ञा का आश्रय नहीं लेना पड़ता, ऐसी कोई भी विश्लेषण अथवा स्पष्टीकरण की पद्धति मुझे ज्ञात नहीं है। अतः 'केवल' संज्ञा हो ही नहीं सकती या उनका किसी मिश्र संज्ञा की व्याख्या करते हुए उपयोग नहीं हो सकता, ऐसी केवल संज्ञा ढूंढने का प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं, इत्यादि में से कोई भी दृष्टिकोण मुझे संगत नहीं लगता।

केवल किसे कहें ?

इस प्रतिपादन के मूल से उत्पन्न श्री कुरुंदकर का दूसरा मत यह है कि इस प्रकार यदि हमें संज्ञाओं को केवल मानना हो तो संसार की कोई भी संज्ञा केवल मानी जायेगी। प्रत्येक नाम (सामान्य नाम होने पर भी) अन्त में विशिष्ट वस्तु का नाम होने के कारण (और अन्य किसी भी वस्तु का नाम न होने के कारण) अन्त में केवल ही होगा। उदाहरण के लिए उन्होंने लोमड़ी यह शब्द लिया है। लोमड़ीपन यह संज्ञा अन्य संज्ञाओं से भिन्न होनी चाहिए। "प्राणी का अर्थ लोमड़ी नहीं, चतुष्पाद का अर्थ लोमड़ी नहीं, लोमड़ी को ही लोमड़ी कहा जाएगा। चार पाँव, पूँछ, इत्यादि अवयव इस उद्देश्य के भाग हैं। लोमड़ी इस विधान के भाग नहीं। जिस आधार पर 'मूर' शिव की और बारलिंगे सुन्दर की संज्ञा केवल मानते हैं, उस आधार पर किसी को भी केवल मान लेना कठिन नहीं है।"[1] यहाँ श्री कुरुंदकर एक बात भूलते हैं। एक तो किसी

१. सौन्दर्यकाय नाहीं ? श्री कुरुंदकर, 'मराठवाडा' दिवाली अंक १९५६

भी वस्तु को केवल न मानकर जो वस्तु केवल है उसी को केवल मानना चाहिए। वह इसलिए कि सावयव वस्तु का स्पष्टीकरण हो सके। यह भूमिका मान लेने पर स्पष्ट हो जाएगा कि 'लोमड़ी नीली है' में 'नीली' यह संज्ञा और 'लोमड़ी लोमड़ी है' में विधेय के स्थान पर स्थित 'लोमड़ी' यह संज्ञा समान ही नहीं हैं। 'लोमड़ी नीली है' में 'नीली' विशेषण है। 'लोमड़ी लोमड़ी है' में विधेय 'लोमड़ी' यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से विशेषण के समान प्रयुक्त किया गया है तथापि यह विशेषण नहीं है। लोमड़ी शब्द का जब हम प्रयोग करते हैं तो हमारे सामने केवल शब्द ही नहीं होता अपितु उसका अर्थ भी होता है। और इस अर्थ को यदि अवयव हों अर्थात् उससे हम १, २, ३, ४ इत्यादि बातें समझ सकें तो हम उसे केवल नहीं कहते। किन्तु मैं यह समझता हूँ कि जिस प्रकार लोमड़ी का लोमड़ी इस शब्द की अपेक्षा एकाध भिन्न अर्थ भी हम समझते हैं, उसी प्रकार नीले इस शब्द से किसी अन्य अर्थ को नहीं समझते। इसी कारण लोमड़ी का चित्र देखने पर उसे प्रत्यक्ष न देखकर भी कभी किसी विशिष्ट प्राणी की ओर देखकर यह लोमड़ी है, ऐसा हम कह सकते हैं। लोमड़ी के चित्र और लोमड़ी में हम भिन्नता दिखा सकते हैं। किन्तु नीले चित्र और नीले में हम भिन्नता नहीं दिखा सकते। नीले का चित्र नहीं हो सकता, जो होगा वह नीला ही। इसलिए नीले को केवल समझना चाहिए लोमड़ी को नहीं। यदि श्री कुरुंदकर के ही तर्कशास्त्र का प्रयोग करना हो तो प्रत्येक विशेषनाम केवल माना जायेगा और किन्हीं भी दो विशेषताओं में से किसी को भी सामान्य नहीं माना जा सकेगा। श्री कुरुंदकर कुरुंदकर ही रहेंगे और बारलिंगे, बारलिंगे ही। किंतु दोनों केवल संज्ञा होने के कारण दोनों के सामान्य गुण और उनसे उत्पन्न दोनों की समानता हम व्यक्त नहीं कर पायेंगे।

किसी भी बिशेषण से भाववाचक नाम बनाकर उसकी संज्ञा बनाने का और इस संज्ञा का पुनः विशेषण बनाने का अथवा उसका विशेषण के समान प्रयोग करने का महान् शस्त्र दार्शनिकों को प्राप्त हुआ है। इस शस्त्र के बल पर तत्त्वज्ञ बुद्धि की कोई भी कसरत कर सकता है। किन्तु मूल में ही कोई भूल करने पर तत्त्वज्ञ स्वयं निर्मित मोहजाल में फंस जाता है और अंत तक उसे जान भी नहीं पाता। उदाहरण के लिए

निम्नलिखित विधानों को देखिए :—

१—यह लोमड़ी है।

२—यह नीली है।

३—लोमड़ी नीली है।

ये सब विधान तार्किक सांचे में यद्यपि एक से लगते हैं तथापि वास्तव में क्या वे वैसे हैं, यह देखना आवश्यक है। 'लोमड़ी नीली है' में 'नीली' लोमड़ी का विशेषण है। उसी प्रकार 'यह लोमड़ी है' में क्या 'लोमड़ी' यह 'यह' का विशेषण है ? किन्तु 'लोमड़ी' इस पद से भी भाववाचक नाम तैयार किया जा सकता है और 'नीले' इस विशेषण से भी। और लोमड़ीपन को हम लोमड़ी का धर्म मानते हैं और नीलेपन को भी लोमड़ी का धर्म मानते हैं। किन्तु 'लोमड़ीपना' यह संज्ञा कई विशेषणों के समूह से होने वाले अथवा अनेक विशेषणों से समझे जाने वाले संकेतात्मक नाम को भाववाचक प्रत्यय लगाकर बनी हुई होती है। और 'नीलापन' यह नीले विशेषण को भाववाचक प्रत्यय लगाकर बनाया जाता है। तथा भाववाचक नामों को पदार्थों का गुण समझने की हमारी रीति होने के कारण 'नीलापन' और 'लोमड़ीपन' का प्रयोग नीला (विशेषण) और लोमड़ी (विशेषण) के रूप में हमें करना पड़ता है। इसी तर्क के मूल में लोमड़ीपन यह संज्ञा मानी जाती है। इसी तर्क का आश्रय लेकर श्री कुरुंदकर ने 'यह लोमड़ी है' इस विधान में लोमड़ी इस विधेय को अन्यों की अपेक्षा भिन्न किया जा सकता है, इस प्रकार का दृष्टिकोण अपना लिया है। अर्थात् ऐसा दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता नहीं है। 'यह लोमड़ी है' में लोमड़ीपन नामक वास्तव में कोई भी 'एक और केवल' भाववाचकता नहीं होती। इसके विपरीत 'लोमड़ी नीली है' में 'नीली' शब्द तो केवल और भाववाचक होता है, इसे और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। सौभाग्यवश ऐसा लगता है कि श्री कुरुंदकर को भी यह मत मान्य है। क्योंकि अगले ही परिच्छेद में वे लिखते हैं कि 'ऐसे समय संज्ञा और जिसका वह अर्थ है, जिस पर वह आरोपित है, ऐसे दो भाग सामने आते हैं और संज्ञा जिसका अर्थ दिखाती है, वह यदि केवल नहीं होता तो संज्ञा का केवल होना अथवा मानना ठीक नहीं होता।' अर्थात् लोमड़ी केवल नहीं माना जा

सकता और श्री कुरुंदकर को भी निश्चित रूप से यह अभिप्रेत नहीं है। किन्तु यदि श्री कुरुंदकर की भाषा में कहना हो तो संज्ञा जिसका अर्थ दिखाती है वह, (अथवा मेरी भाषा में कहना हो तो संज्ञा का अर्थ) यदि केवल हो तो वह संज्ञा निःशंक रूप से केवल होगी। और नीला अथवा पीला ये विशेषण, अथवा वे जिन वस्तुओं के अर्थ हैं, वे वस्तुएँ उस प्रकार निरवयव और केवल होंगी; इस विषय में कोई सन्देह नहीं।

सुन्दर और सौन्दर्यधर्म

ऐसा लगता है कि हमारा दूसरा तत्त्व श्री कुरुंदकर ने बहुत शीघ्रता में निरूपित किया है। अपने लेख के अन्त में श्री कुरुंदकर लिखते हैं कि 'The Beautiful में कम से कम सौन्दर्य धर्म तो केवल है, यह दिखाए बिना सुन्दर यह केवल संज्ञा है, इस प्रतिपादन का कोई महत्त्व नहीं है।' मेरे दुर्भाग्य से मैं उपर्युक्त वाक्य को नहीं समझ सका। The Beautiful के 'सौन्दर्य-धर्म' से क्या अभिप्राय है ? या तो यह 'सौन्दर्य-धर्म' और जिन्हें सुन्दर यह विशेषण समझता हूँ, वह होगा अथवा यह सौन्दर्य-धर्म अस्तित्ववाचक उद्देश्य का भाग अथवा सम्बन्ध होगा। क्या सौन्दर्य-धर्म, The Beautiful (अर्थात् सुन्दर वस्तु) के भाग हैं ? और यदि हैं तो केवल क्यों चाहिए ? वास्तव में उन्हें अनेकावयवी होने में क्या आपत्ति है ? जिस अवयव के कारण उस वस्तु की सुन्दरता की प्रतीति होती है अर्थात् उस वस्तु को सुन्दर इस विशेषण से हम संबोधित कर सकते हैं उन अवयवों को सौन्दर्य-धर्म कहने में क्या आपत्ति है ? नहीं, जब तक सुन्दर यह अस्तित्ववाचक विशेषण है, यह हम सिद्ध नहीं करते तब तक The Beautiful के सौन्दर्य-धर्म को केवलत्व पर सुन्दर इस विशेषण के विधेय का केवलत्व निश्चित करना बादरायण के सम्बन्ध का-सा होगा। इसके विपरीत 'सौन्दर्य-धर्म' का मेरे द्वारा प्रतिपादित अर्थ यदि श्री कुरुंदकर को अभिप्रेत नहीं होगा तो 'सौन्दर्य-धर्म' और 'सुन्दर' में भेद ही न रह जाएगा और श्री कुरुंदकर का उपर्युक्त विवेचन अप्रस्तुत और घुमा फिराकर प्रतिपादित माना जायेगा।

अर्थ के विषय में अभिन्नता

श्री कुरुंदकर का दूसरा तत्त्व बहुत महत्त्वपूर्ण है। वे लिखते हैं, 'जिस-जिसने पीला रंग देखा है और उस अर्थ को बताने के लिए 'पीला' इस शब्द को ग्रहण किया है ; उन्हें पीला उच्चारण करते ही जैसा और जितना अर्थबोध होता है, उतना और वैसा ही अर्थबोध यदि 'सुन्दर' से होता है तो फिर वाद की आवश्यकता ही नहीं है। 'सुन्दर' यह एक विधेय अनेकों को अनेक अर्थछटा दिखाता है। यही तो वाद का मूल है।' श्री कुरुंदकर का यह प्रतिपादन बहुत अपरिपुष्ट है। मैं यदि कहूँ कि पीला इस विशेषण से जैसा और जितना अर्थबोध होता है, वैसा और उतना ही अर्थबोध 'सुन्दर' इस विशेषण से होता है तो श्री कुरुंदकर इसे अस्वीकार करेंगे और उनके विधान का प्रत्याख्यान असंभव होगा। किन्तु फिर भी यहाँ दो तत्त्व उपस्थित होते हैं। एक तो मुझे लगता है 'जैसा और जितना' इत्यादि शब्द संख्या और परिणाम के सूचक हैं, और सुन्दर इस विशेषण की चर्चा करते हुए हमें इसी परिणाम को देखना अपेक्षित है। दूसरे, एक (सुन्दर) वस्तु देखने पर मानो कि 'अ' को और 'ब' को वह एक-सी सुन्दर नहीं लगी इससे 'सुन्दर' यह विशेषण केवल नहीं, यह कैसे सिद्ध होगा। इससे अधिक से अधिक इतना ही सिद्ध होगा कि 'अ' और 'ब' ने देखी हुई वस्तु यदि 'क्ष' हो तो 'क्ष' सुन्दर है अथवा नहीं यह विवाद का विषय है अथवा 'क्ष' सुन्दर है यह विधान ग़लत अथवा ठीक है, इसमें से कुछ भी हो सकता है। किन्तु यह विधान 'क्ष' विषयक है 'सुन्दर' विषयक नहीं है। इसी प्रकार 'क्ष' विषयक ऐसा विधान अस्तित्ववाचक विधान होगा, सौन्दर्यवाचक विधान नहीं। इससे सुन्दर यह विशेषण केवल है अथवा नहीं यह निश्चित नहीं होगा। इसी तत्त्व के मूल में एक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। 'क्ष' देखने पर 'अ' ने वह सुन्दर है यह विधान बनाया और 'ब' ने वह सुन्दर नहीं यह विधान बनाया फिर भी इससे यह सिद्ध हो जाता है कि 'क्ष' की सुन्दरता के विषय में 'अ' और 'ब' में मतभेद होने पर भी 'सुन्दर' के अर्थ के सम्बन्ध में दोनों में मतभेद नहीं दीखता। और यदि यह मतभेद होता तो 'क्ष' सुन्दर है अथवा नहीं इस सम्बंध में दोनों में विवाद ही उपस्थित न होता। अर्थात् पीला अथवा नीला

और सुन्दर यह विशेषण एक ही कोटि के नहीं हैं, यह मैं मानता हूँ। किन्तु एक अस्तित्ववाचक है और दूसरा नहीं, यही तो मेरा प्रतिपाद्य विषय है।

सौन्दर्यशास्त्र का अगला चरण

श्री कुरुंदकर लिखते हैं, 'शिव और सुन्दर' को केवल संज्ञा कहने का कोई आधार नहीं है। इन संज्ञाओं का वास्तविक अर्थ निर्धारित करने के लिए निश्चित रूप से कोई आधार नहीं है किन्तु निश्चित अर्थ के निर्धारण के लिए आधार की आवश्यकता नहीं है। उस संज्ञा के विभिन्न अवयव दिखाने पर उसका 'केवलत्व' अपने आप दूर हो जाता है। उसके अवयव दिखाने के प्रयत्न में मुझे अपयश मिलने के कारण ही 'सुन्दर' इस विशेषण को मैंने निरवयव विशेषण माना है। उसके विभिन्न अवयव दिखाते ही सौन्दर्यशास्त्र का एक और पग आगे पड़ेगा और बिना किसी दुराग्रह के मैं अपने कथन को वापस ले लूँगा। पहले ऐसा समझा जाता था कि Atom निरवयव है। अब यह धारणा ग़लत मानी गयी है। हमारी धारणा जैसे-जैसे त्रुटिपूर्ण मानी जाती है, वैसे-वैसे शास्त्र आगे बढ़ता है। मेरी यही इच्छा है कि मेरा यह कथन कि 'सुन्दर' यह विशेषण निरवयव **केवल** है, यह त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो।

श्री कुरुंदकर-निर्दिष्ट एक और तत्त्व यह है कि 'सुन्दर' को केवल विशेषण मानने पर या तो सुन्दर और शिव ये दोनों मूल्यविषयक हो जाते हैं, इसलिए ये या तो समानार्थी बन जाते हैं अथवा फिर 'सुन्दर' को एक इन्द्रियविषयक संवेदना का नाम मानना पड़ेगा। श्री कुरुंदकर लिखते हैं, यह भूमिका अपनाते ही सुन्दर इस विधेय को (१) अस्तित्व-वाचक, (२) सम्बन्ध-दर्शक, (३) वृत्तिदर्शक, इनमें से कोई एक रूप मानना पड़ेगा। अन्तिम दो विधेय केवल नहीं होते और पहले प्रकार में केवल इन्द्रिय-संवेदना के अर्थ में केवल होता है। 'सुन्दर' यह इन्द्रियविषयक संवेदना का नाम बन जाता है, और यह उचित नहीं लगता। श्री कुरुंदकर का कथन है कि शिव और सुन्दर को केवल संज्ञा कहते ही शिव सुन्दर बन जाता है और नीतिशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र

का भेद दूर हो जाता है। यदि 'क्ष' शिव है और 'क्ष' सुन्दर है, यह मूल्यवाचक विधान हो और फिर भी उनके विधेय केवल न हों तो क्या श्री कुरुंदकर द्वारा उपस्थित आपत्तियाँ दूर हो जायेंगी ? श्री कुरुंदकर की धारणा में मूल्य एक ही होना चाहिए। और यह धारणा यदि सत्य है तो जिस प्रकार शिव और सुन्दर को मूल्य मानने पर और केवल मानने पर शिव और सुन्दर एकरूप बन जाते हैं, उसी प्रकार शिव और सुन्दर मूल्य मान लें और केवल न मानें तो या तो शिव सुन्दर का भाग बन जाएगा अथवा सुन्दर यह शिव का भाग बनेगा अथवा शिव और सुन्दर केवल न होते हुए भी उनका समीकरण संभव होगा। तात्पर्य यह कि शिव अथवा सुन्दर को केवल मानने के कारण ही यह आपत्ति उत्पन्न होती है, यह समझना ठीक नहीं है। या तो शिव और सुन्दर को एक मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए या मूल्य के एक ही होने की धारणा ग़लत होनी चाहिए।

श्री कुरुंदकर द्वारा प्रस्तुत एक और तत्त्व यह है कि सम्बन्धदर्शक अथवा वृत्तिदर्शक विशेषण निरवयव नहीं होते। यह तत्त्व भी विचारणीय है। किन्तु मैं नहीं सोचता कि यह तत्त्व भी स्वयं स्पष्ट है। किसी वस्तु का एक प्रकार से विश्लेषण होने पर भी दूसरे प्रकार से वह विश्लेषणातीत हो सकती है यह मेरी दृढ़ मान्यता है, भले ही इसमें दोष दिखाई दे। उदाहरण के लिए हम 'पीला रंग' लेते हैं। 'पीला रंग' रंग की दृष्टि से विश्लेषणातीत, निरवयव और केवल है। किन्तु यदि किसी पदार्थ-विज्ञान के विद्वान् से पूछा जाए तो वह कहेगा कि इस रंग का विश्लेषण हो सकता है। किन्तु जब पदार्थ-विज्ञानशास्त्र द्वारा इस रंग का विश्लेषण होता है तब वह गुण का विश्लेषण नहीं होता। पदार्थ का होता है, रंग का नहीं तो तरंगों का होता है, इतना ध्यान में रखना आवश्यक है। पीला रंग यह किन्हीं पादार्थिक तरंगों से उत्पन्न होता है, ऐसा कहा जा सकता है, लेकिन फिर भी पीले रंग को पीला रंग कहकर कितनी ही छानबीन की जाए, हमें प्राप्त होने वाला अंश पीला रंग ही रहेगा। उसका विश्लेषण न हो सकेगा। मेरे विचार में 'सुन्दर' की भी यही स्थिति है। वह किसी भी सुन्दर वस्तु के अनेक अवयव सम्बन्ध से उत्पन्न होने पर भी 'सुन्दर' इस विशेषण का विभाजन उस अवयव में

नहीं किया जा सकता, 'सुन्दर' के विभिन्न अंगों की कल्पना ही नहीं की जा सकती। 'पाठशाला' और 'मनुष्य' सावयव संज्ञाएँ मानी जाती हैं और इनका विश्लेषण भी होता है। किन्तु 'पाठशाला' इस संज्ञा का विश्लेषण विभिन्न कक्षाओं में नहीं किया जाता अथवा मनुष्य का वर्गीकरण हाथ, पाँव, मुँह, नाक इत्यादि अवयवों में नहीं किया जा सकता, और फिर भी कक्षाओं से रहित पाठशाला नहीं होती और हाथ-पाँव रहित मनुष्य नहीं होता। किन्तु हाथ, पाँव अथवा कक्षा ये विश्लेषण नहीं हैं। मनुष्य अथवा पाठशाला इन संज्ञाओं का विश्लेषण भिन्न प्रकार का होता है।

सुन्दर यह निरवयव कल्पना भी विभिन्न प्रकार से उत्पन्न हो सकती है। और फिर भी सुन्दर इस विशेषण का वर्गीकरण अथवा विश्लेषण किसी में भी होता नहीं दीखता।

'सुन्दर' यह विशेषण निरवयव है यह कथन ग़लत सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु वह एक ही रीति से और वह रीति यह है कि वह दो अथवा अधिक केवल अवयवों का बना है यह दिखाया जाय। जैसा कि कहा जा चुका है इसी में शास्त्र का विकास भी निहित है। किन्तु ऐसा न करके विश्लेषण पद्धति को ही ग़लत प्रमाणित करना और 'यह सब प्रतिपादन मुझे सदोष लगता है' यह कहना कहाँ तक ठीक है, इस पर विशेषज्ञों और विद्वानों को विचार करना चाहिए।

३ | सौन्दर्यवाचक विधानगत उद्देश्य

कला के लक्षण

सौंदर्यवाचक विधानों के उद्देश्य का विश्लेषण करके उसका संग्रह करना और इस अस्तित्ववाचक आशय का विश्लेषण करना सौंदर्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण भाग है। प्रस्तुत अस्तित्ववाचक उद्देश्य अथवा The Beautiful दो प्रकार का होता है। नदी, नाले, समुद्र, खाड़ियाँ, वनश्री, फूल, पक्षी और स्त्री-पुरुष इनमें से कोई भी नैसर्गिक वस्तु पृथक् रूप से अथवा सामूहिक रूप से सौंदर्यवाचक विधान का उद्देश्य बन सकती है। अथवा इस वस्तु के विभाजन से कल्पनाशक्ति के बल पर उत्पन्न की गई, अथवा केवल कल्पना के बल पर उत्पन्न की गई वस्तुएँ भी सौंदर्य-वाचक विधान का उद्देश्य बन सकती हैं। इनमें से दूसरी प्रकार की वस्तुओं को सामान्यत: कला अथवा ललितकला के रूप में सम्बोधित करने की पद्धति है। इन कलाओं के सामान्य स्वरूप से सौंदर्यशास्त्र के उद्देश्य का स्वरूप व्यक्त होने के कारण कला के स्वरूप पर विचार करना उपयुक्त होगा।

कला इस शब्द को यद्यपि हम अपने जीवन में अत्यन्त सामान्यरूप से व्यवहृत करते हैं तथापि प्रस्तुत शब्द से कुछ न कुछ अर्थ निकल आता है। फिर भी जब हम कहते हैं कि 'अमुक एक कला' है तब हमें वास्तव में क्या कहना है, यह बताना कठिन है। विभिन्न लोगों को 'कला' इस शब्द से नाना प्रकार के अर्थों की प्रतीति होती है। अत: समस्त कलाओं में निरपवाद रूप से प्राप्त और अन्यत्र अनुपलब्ध विशिष्ट गुण ढूँढ़कर कला की व्याख्या कहाँ तक सम्भव हो सकेगी, इस विषय में मैं विशेष रूप से शंकित हूँ। भले ही एक सामान्य लक्षण के द्वारा कला की व्याख्या करने का प्रयत्न आज अनेक वर्षों से हो रहा है। सौंदर्य को कला का एक व्यवच्छेदक लक्षण मानना भी इसी प्रकार का एक प्रयत्न है। किन्तु ऐसे एक विशिष्ट गुण के द्वारा समस्त कलाओं को एक माला

में पिरोना इतना आसान नहीं है, जितना लगता है। क्योंकि कला से सम्बन्धित ऐसे एक विशिष्ट गुण के द्वारा किया गया विधान वैसा ही होगा जैसा कि यह कहना कि 'सब मनुष्य मर्त्य हैं'। परन्तु ऐसे विधान से 'सब मर्त्य, मनुष्य हैं' ऐसा तर्क नहीं लगाया जा सकता। इसी प्रकार समस्त कलाओं में एक गुण है यह मान लेने पर भी कला के अतिरिक्त अन्यत्र इस गुण की स्थिति है अथवा नहीं यह जब तक हम निश्चित नहीं कर लेते तब तक ऐसे एक गुण का कला की व्याख्या करते हुए उपयोग नहीं करना चाहिए। किसी भी वस्तु की व्याख्या यदि वह निरवयव (Simple) होती है तो कठिन हो जाती है, किन्तु यदि वह वस्तु सावयव हो तो भी उसकी व्याख्या करना उसके अवयवों की संख्या पर अवलंबित होता है। वस्तु का अवयव, जितना अधिक होता है, उसकी व्याख्या करनी उतनी ही कठिन होती है। और अवयव यदि असंख्य हों तब तो उसकी व्याख्या करना लगभग कठिन ही है। यह स्पष्ट है कि कला निरवयव नहीं होती, किन्तु उसका सम्पूर्ण घटक बताना भी कठिन होता है। इसी कारण कला की व्याख्या कठिन हो जाती है।

ज्ञान और कला

कला की व्याख्या करना यद्यपि कठिन है तथापि कला शब्द से हमें कम से कम कुछ गुणों का प्रत्यय आना आवश्यक है। ऐसे कुछ गुणों की हम गणना कर सकें तो कला का सर्व सामान्य रूप कौनसा होता है, यह निश्चित करने में सहायता मिलेगी। इस दृष्टि से कला की ज्ञान से तुलना करना लाभदायक सिद्ध होगा।

जर्मनी में लायब्नीस नामक एक महान् गणितज्ञ और दार्शनिक रहता था। उसने ज्ञान के विषय में कहा है कि ज्ञान स्वयं प्रकाश है। Knowledge is Sui Generis और हमारे महान् दार्शनिक श्री शंकराचार्य का भी यही कथन है। ज्ञान स्वयं प्रकाश है इसका क्या अर्थ है ? ज्ञान स्वयं प्रकाश है इस वाक्य से मुझे जो बोध होता है वह यह कि ज्ञान व्यक्तिनिष्ठ नहीं; किंबहुना, ज्ञान का ज्ञानत्व किसी भी व्यक्ति पर अवलंबित नहीं है। वस्तु का यथावत् दर्शन ज्ञान कहलाता है। मेरे सामने यह मेज है। यह ज्ञान मुझे तभी कहलायेगा यदि यह मेज होने

पर मुझे उसका ज्ञान मेज के रूप में ही हो। यदि इस टेबल का ज्ञान मुझे कुर्सी के रूप में हुआ तो मुझे प्राप्त बोध ज्ञानकक्ष में न होगा। उसको ज्ञान नहीं कहा जा सकता। अर्थात् अस्तित्व होने के कारण भास होने का नाम ही ज्ञान है। इसके विपरीत अस्तित्वरहित का भास होना कल्पना या आभास Illusion मात्र है। यह कल्पना सदा व्यक्तिनिष्ठ होती है। इसके विपरीत ज्ञान कभी भी व्यक्तिनिष्ठ नहीं होता। संक्षेप में वह वस्तुनिष्ठ होता है। ज्ञान में हम कुछ भी नवीनता नहीं लाते। जो कुछ है अथवा होता है उसी को हम स्पष्ट रूप में देखते हैं। इसके लिए यदि अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द का प्रयोग करना हो तो यह कहना होगा कि यह Discovery है Invention नहीं। अर्थात् जिसे तीक्ष्ण दृष्टि अथवा संवेदन प्राप्त है उसे निरन्तर ज्ञान होता रहेगा। कोलम्बस एक विशिष्ट दिशा से गया और वह अमेरिका पहुँचा। किन्तु कोलम्बस के स्थान पर यदि कोई क्ष, य, ज्ञ उसी दिशा से जाता तो उसे अमेरिका नहीं मिलता ऐसी बात नहीं है। आज भी कितने ही लोग अमेरिका जाते हैं और वे वहाँ पहुँच ही जाते हैं। इसी कारण जो किसी एक ही व्यक्ति की अमानत नहीं है, जिसकी प्रतीति वस्तु-विशेष के कारण सब लोगों को समान रूप से होती है, जो किसी भी ज्ञाता में भेदभाव नहीं रखती उस वस्तु-विशेष को ही 'ज्ञान' कहते हैं। इस प्रकार की वस्तु का स्वरूप सामान्यात्मक Universalistic अथवा सर्वजन सुलभ होता है और इसी कारण ज्ञान स्वयं प्रकाश है यह सिद्धान्त दार्शनिकों ने स्थापित किया है।

यहाँ एक प्रश्न उठने की सम्भावना है। जब 'अ' और 'ब' किसी वस्तु को देखते हैं तब भी वह दोनों को एक-सी नहीं दीखती। उदाहरणार्थ, किसी मेज की एक कोने से निकाली गई फोटो, उसी मेज की दूसरे कोने से निकाली गई फोटो के समान नहीं होगी। इस पर मेरा उत्तर यह है कि विभिन्न कोनों से देखने पर हमें मेज का जो दर्शन होता है उसे हम ज्ञान नहीं कहते अपितु दो फुट लम्बी, तीन फुट चौड़ी और एक विशिष्ट आकार की वस्तु,—जो सब के लिए एक समान होती है और समान रूप से समझी जाती है,—उसी के आकलन को ज्ञान कहते हैं।

कला का प्रकार इसके विपरीत होता है। कल्पना और कला में एक साम्य है। कला में जो पहले से ही निहित है, उसकी खोज नहीं करनी

पड़ती, वरन् मानसिक कल्पना से कुछ नवीन उत्पत्ति करनी होती है। यदि निर्मिति नहीं होती तो कला का 'कलेवर' हो जाएगा। कला को जनक की आवश्यकता होती है और उसकी कल्पना से ही कला उत्पन्न होती है। अर्थात् उन्मुक्त कल्पना में और आभास में भी जिस प्रकार ज्ञान के परमाणु अथवा बीज होते हैं, उसी प्रकार व्यक्तिनिर्मित कला में भी ज्ञान का आविष्कार हो जाता है। कला नामक वस्तु के लिए उपर्युक्त विधान सत्य ही है। किन्तु सामान्यत: जिन्हें Invention कहा जा सकता है उनके विषय में भी उपर्युक्त विधान नि:संशय सत्य है। 'हर्डभ्र किरण' का आविष्कर्ता यद्यपि हम हर्डभ्र को मानते हैं तथापि यह किरण उसने निर्मित नहीं की। इसके विपरीत इस ज्ञान के आधार पर जिस रेडिओ का निर्माण हुआ उसका तो वह निश्चित रूप से जनक है अर्थात् Discovery में हमें पूर्वस्थित सृष्टि का ही बोध होता है किन्तु Invention में सत्यसृष्टि के ज्ञान का अणु-परमाणु का उपयोग करके नवीन सृष्टि उत्पन्न की जाती है, इस नवीन उत्पादित सृष्टि का स्वरूप—कला का स्वरूप—सृष्टि की अन्य वस्तुओं के समान ही होता है। एक प्रकार से विचार करने पर कला का स्वरूप ज्ञान से भिन्न अर्थात् निर्मिति के लिए व्यक्ति पर अवलंबित होता है तो दूसरी दृष्टि से विचार करने पर कला का स्वरूप किसी अंश तक ज्ञानस्वरूप होता है अर्थात् जिसका अनुभव एक से अधिक व्यक्ति कर सकते हैं। विभिन्न कलाओं में प्रस्तुत व्यक्तिनिष्ठता आने पर भी निर्माता से उसका सम्बन्ध टूटना आवश्यक नहीं है। कवि द्वारा निर्मित काव्य अथवा उपन्यासकार द्वारा निर्मित उपन्यास यद्यपि कवि और उपन्यासकार से स्वतन्त्र होता है, फिर भी नर्तन, अभिनय अथवा गायन और वादन की कला अपने निर्माता से स्वतन्त्र नहीं हो सकती और फिर भी इस कला का अनुभव एक से अधिक व्यक्ति कर सकते हैं। अत: कला व्यक्तिनिष्ठ होने पर भी वस्तुनिष्ठ होती है।

मनुष्य द्वारा कला का निर्माण

ज्ञान और कला की तुलना से एक बात सिद्ध होती है। जब हम कला का निर्देश करते हैं तब हमें और कुछ कहना हो अथवा न हो, एक बात तो निश्चित रूप से अभिप्रेत होती है और वह है कला का मनुष्य

द्वारा निर्माण । सृष्टि की किसी भी प्रकृति-निर्मित वस्तु को हम कला के रूप में सम्बोधित नहीं करते । प्रकृति के विभिन्न कण चुनकर अथवा उनमें कल्पना शक्ति के कण मिलाकर जब हम कोई वस्तु अथवा प्रति-वस्तु निर्मित करते हैं, अपनी कल्पना साकार करते हैं, तभी कला उत्पन्न होती है । निर्माण यह कला का पहला और महत्त्वपूर्ण गुण है । मनुष्य-निर्मातृत्व के बिना कला रह नहीं सकती । निर्माण का प्रत्येक कला में सामान्य रूप से होना आवश्यक है। किन्तु निर्मातृत्व कला का विशेष गुण नहीं है । एक वस्तु मनुष्य-निर्मित है, इतना समझने पर हम कला के संसार का एक बाह्य अवरोध पार कर लेते हैं। परन्तु इससे कला की परिधि में हम पहुँच ही जायेंगे और कला का स्वरूप हम जान ही जायेंगे, यह समझना ठीक नहीं है । जहाँ-जहाँ कला होती है वहाँ-वहाँ निर्मातृत्व होना आवश्यक है । किन्तु जहाँ-जहाँ निर्मातृत्व होता है, वहाँ-वहाँ कला का होना अनिवार्य नहीं है । अन्यथा मिट्टी से बनाई गई ईंटें और कवेलु, धातुनिर्मित यन्त्र और उपकरण, नवीन आविष्कृत बीज-गणित अथवा पदार्थविज्ञान की खोज करके निकाला हुआ नवीन सिद्धान्त, इत्यादि सभी कला के प्रकार हो जायेंगे । और यह स्पष्ट ही है कि इन्हें कला के अन्तर्गत मानना हास्यास्पद है ।

मनुष्य निर्मातृत्व का अभिप्राय और उसकी आवश्यकता

मनुष्य निर्मातृत्व समस्त कलाओं का सामान्य गुण है, इस कथन से कोई नई बात स्पष्ट नहीं होती । इस तथ्य को अनेक व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न रूप में स्पष्ट किया है—Art is expression, Art is communication, Art is Imagination ।

उपर्युक्त कला विषयक सिद्धान्तों के प्रतिपादकों को निःशंक रूप से यही अभिप्रेत होता है कि Art is creation अर्थात् कला में निर्मातृत्व निहित है । किन्तु Art is creation कहते हुए इस विधान का आशय हम हमेशा समझ पाते हैं या नहीं इस विषय में शंका है । Art is creation जब हम कहते हैं तब इस विधान का अर्थ (Import) समझना अनिवार्य है। इस विधान के उद्देश्य और विधेय दोनों पद यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से संज्ञाएं हैं तथापि न्यायशास्त्र की दृष्टि से

विधान का उद्देश्य नामवाचक है, और विधेय तो गुणवाचक ही है। इन समस्त विधानों (Art is Expression—इत्यादि विधानों) का तार्किक ढांचा (Logical Form) S is P (उ है वि) ऐसा न होकर S has P (उ का गुण वि) ऐसा है। इस विधान के तार्किक ढांचे की उपेक्षा करने के कारण Art is expression इत्यादि प्रमेयों को कला की व्याख्या समझने की त्रुटि हमसे होने लगती है और कला का अर्थ निर्माण और निर्माण का अर्थ कला समझ कर कला और निर्माण का हम समीकरण स्थापित करते हैं। परन्तु कला के निर्मातृत्व की आवश्यकता होने पर भी निर्मातृत्व-कला यह समीकरण त्रुटिपूर्ण है।

इसके विपरीत निर्मातृत्व का अर्थ कला यह समीकरण त्रुटिपूर्ण है, इसका ज्ञान हो जाने पर एक दूसरी ही ग़लती हम से हो जाती है। हम यह समझने लगते हैं कि कला को निर्माण की कोई आवश्यकता नहीं है। इस कारण प्रत्येक कला के दो छोर होते हैं—एक कलाकार और दूसरा आस्वादक। निर्मिति की प्रक्रिया और कलास्वाद की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न है, यह हम भूल जाते हैं और कलास्वाद की अथवा कला-संवेदना की ही दृष्टि से हम कला की व्याख्या करने लगते हैं। प्लेटो के दर्शन से किंबहुना हमारे वेदान्त दर्शन से और इस दर्शन से प्रभावित भट्टनायकादि कलातत्त्वज्ञों के लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि कला के लिए जो अनिवार्य अंग निर्माण है, उसकी अवहेलना की गई है। हमारे मन में उठने वाली प्रत्येक कल्पना (Idea) कल्पना के दूसरे सत्य में (The world of Ideas) पहले से ही अस्तित्व में होती है और हमारे मन की कल्पना अर्थात् वह संवेदन जो हमें उस सच्ची कल्पना से हुआ है—हमारे मन की कल्पना अर्थात् लगभग मूलभूत कल्पना का अनुवाद है (Copy अथवा Approximation)। यही प्लेटो का तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञान का परिणाम कलास्वरूप शास्त्र पर भी हुआ और इस कारण कला के लिए आवश्यक निर्मातृत्व की अवहेलना की गई। इस तत्त्वज्ञान की स्वीकृति का परिणाम यह हुआ कि भले ही किसी चित्र-कार ने कोई चित्र खींचा, अथवा किसी शिल्पी ने कोई मूर्ति निर्मित की या किसी नृत्यकार ने कोई नृत्य की रचना की तथापि उसका कर्तृत्व कलाकार को प्राप्त नहीं होता। कलाकार की निर्माता की भूमिका

समाप्तप्राय हो जाती है, वह केवल रसिक अथवा आस्वादक बना रहता है। कला निर्मिति का प्रकार न रह कर केवल ज्ञान का, संवेदना का प्रकार हो जाती है। इस स्थापना के कारण कला और निसर्ग की भिन्नता दूर हो जाती है परिणामतः निसर्ग सृष्टि को कला कहने की पद्धति चल पड़ी होगी। सृष्टि-सौन्दर्य और कला-सौन्दर्य में निर्मिति के विषय में तो अन्तर नहीं है फिर भी अन्तर दिखाई देता है, इसलिए यह कल्पना रूढ़ हो गई कि यह अन्तर सौन्दर्य के विषय में होगा। व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि कला शब्द का जन्म संभवतः इसी दृष्टिकोण से हुआ हो। कला का मूल अर्थ है आकलन और कला शब्द ज्ञान-प्रक्रिया का समानार्थी है। हातिमताई की कथाओं में शिल्प-मूर्तियों का परिस्तान की परियों से जो सम्बन्ध जोड़ा गया है उसकी पृष्टभूमि में प्लेटो-प्रणीत दर्शन का आधार है। हम जो कुछ निर्माण करते हैं वह इस संसार में भले ही न हो किन्तु परिस्तान में इसकी स्थिति है, इस प्रकार की स्थापना की जाती है। इसे अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। कला और निर्मातृत्व के सम्बन्ध की अवहेलना करने के कारण ही कला की व्याख्या अथवा स्पष्टीकरण करते हुए उसका ज्ञानेन्द्रिय से सम्बन्ध स्थापित किया गया। कला-संवेदन ज्ञान-सदृश होने पर भी वह ज्ञान से भिन्न है, अतः मर्ढेकर आदि को सौन्दर्य-भावना[1] का अवलंबन लेना पड़ा है। इसी स्थापना के कारण संगीत का अथवा चित्रकला का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया—जो कान से सुना जाता है वह संगीत, आँख से जिसका सौन्दर्य निहारा जाता है वह चित्र। परन्तु इस ओर हमारा ध्यान ही नहीं गया कि जिसका निर्माण नहीं हुआ वह कला ही नहीं हो सकती। इसी कारण जो मुख से गाया जाता है अथवा हाथ से या पाँव से या दोनों से बजाया जा सकता है, वह संगीत, जो हाथों से निकाला जाता है वह चित्र इत्यादि बातें हमारी दृष्टि से छूट गईं। किन्तु कला का मूलतः निर्मिति से सम्बन्ध होता है अतः मुँह, हाथ, पाँव अथवा स्नायु और मन इन कर्मेन्द्रियों के अतिरिक्त किसी भी अन्य इन्द्रिय द्वारा कला-निर्माण

१. सौन्दर्य भावना यह शब्द Aesthetic Emotion के अर्थ में मर्ढेकर प्रयुक्त नहीं करते वरन् Aesthetic Perception के अर्थ में वे इसका प्रयोग करते हैं, यह मेरी मान्यता है।

सम्भव नहीं है। इन इन्द्रियों द्वारा निर्मित वस्तुओं का आस्वाद भी आँख, कान और मन इन इन्द्रियों को ही लेना अनिवार्य हो जाता है। अतः ज्ञानेन्द्रियों से कोई अन्य कला उत्पन्न हो ही नहीं सकती। कला का सम्बन्ध कर्मेन्द्रिय से न होकर यदि केवल ज्ञानेन्द्रिय से होता तो आँख, कान और मन के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से भी कतिपय कलाओं का निर्माण हो चुका होता।

भावनामय अनुभव

हम यह देख चुके हैं कि निर्मातृत्व की कला को अत्यन्त आवश्यकता है। किन्तु ईंटों पर ईंटें रखकर जिस प्रकार घर बनाया जाता है उस प्रकार निसर्ग के पदार्थ लेकर, उसका जमा अथवा गुणा करके कला का निर्माण नहीं किया जाता। निर्माण कर्तरी प्रक्रिया है। किन्तु फिर भी उससे उत्पन्न कला वस्तुगत होती है, निसर्ग की वस्तु लेकर उसे जैसी की तैसी जोड़ने पर उसे कला नहीं कहा जा सकता। 'मैकॉनो' से विभिन्न भागों को लेकर उनसे किसी वस्तु का निर्माण करने पर हमें भले ही आनन्द प्राप्त हो परन्तु वह कला नहीं कहलायेगी। मधुमक्खियाँ जब फूलों से शहद इकट्ठा करती हैं, तब वह केवल फूलों का ही शहद नहीं रह जाता। अपने मुँह में रख कर मधुमक्खियों ने उसे एक भिन्न ही रूप दिया हुआ होता है। नैसर्गिक वस्तु को अथवा ज्ञान को कलाकार भी अपने अनुभव का पुट देता है। उसे जो कुछ नजर आता है वह प्रकृति की वस्तु न रह कर उसके अनुभव की वस्तु बन जाती है। उसका जो यह अनुभव होता है वह ज्ञानसदृश होने पर भी ज्ञान की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक होता है। इस अहंसापेक्ष अनुभव को साकार करने की अथवा अहंनिरपेक्ष करने की क्रिया में कला की अभिव्यक्ति होती है और ऐसा होने पर हम यह कहते हैं कि कलाकार ने उसमें अपने प्राण डाल दिये हैं। सृष्टि का अनुभव करने की यह जो प्रक्रिया है यह ज्ञान-प्रक्रिया की अपेक्षा निर्माण की प्रक्रिया के अधिक निकट है। Art is expression अथवा Art is Imagination कहते हुए लौकिक अहंनिरपेक्ष जगत् में किसी वस्तु का निर्माण करना जिस प्रकार कल्पना है उसी प्रकार कलाकार के अहं-सापेक्ष जगत् से इस वस्तु का निर्माण होता है, यह भी अध्याहृत हो जाता

है। कला को द्विज कहा जा सकता है। प्रथम यह अहंसापेक्ष जगत् में जन्म लेती है फिर वह वस्तुगत होती है। यह निर्मिति तर्ककर्कश न होकर भावमृदुल है, यह भी स्पष्ट है। कलाकार ज्ञानकणों को पुनः साकार नहीं करता। उसके मन में उत्पन्न भावमृदुल अनुभवों को अनुप्राणित करता रहता है। भावनामय अनुभव और उसका साकारीकरण इसी का वह दूसरा गुण है जो कला के लिए सामान्यतः आवश्यक होता है। सर्व-सामान्यतः प्रत्येक कला में यह गुण होता ही है। किन्तु जितनी मात्रा में वह अधिक होगा उतनी ही कला अधिक श्रेष्ठ सिद्ध होगी। भावनामय अनुभव कला का महत्त्वपूर्ण अंग होने के कारण पदार्थ विज्ञान की खोज अथवा नवीन प्रकार के बीजों का आविष्कार कला के अन्तर्गत नहीं आते। अनुभूति के प्रस्तुत भावमय अनुभव को जब कलाकार कला में व्यक्त करने लगता है तब मूल में जैसा उसे अभिप्रेत था, ठीक उसी रूप में वह उसे व्यक्त नहीं कर पाता। हम क्या कर रहे हैं, इसकी उसे धुंधली-सी कल्पना होने पर भी वह कल्पना धुंधली ही होती है और उससे उसकी कला की नवीनता का निर्माण होता है। भावपूर्ण अनुभव और उस अनुभव के व्यक्तीकरण की प्रक्रिया की अस्पष्टता के ही कारण कला कारीगरी से और शास्त्रीय अनुसंधान से भिन्न मानी जाती है। 'मराठवाडा' दिवाली अंक के (इ० स० १९५६) मुखपृष्ठ पर मेरे मित्र श्री वसेकर का एक चित्र छपा है। चित्र घास के गट्ठे सिर पर लिये हुए तीन स्त्रियों का है। यदि उन तीनों ही स्त्रियों के मुख कलाकार ने दिखा दिये होते तो वह चित्र नहीं बनता, ऐसी बात नहीं है। किन्तु उन तीन स्त्रियों में से दो स्त्रियों के चेहरे चित्रकार ने घास के गट्ठे के नीचे यदि छिपाए न होते तो या तो भावनामय अनुभव का उस चित्र में अभाव हो जाता या वह बहुत कम मात्रा में रह जाता। सृष्टि के अनुभव को हमारी भावना के सांचे में उँडेल कर फिर उसे साकार करने का जो गुण है वह निर्मातृत्व के ही समान कला के लिए आवश्यक है। किंबहुना, इसी गुण को कुछ लोग निर्मातृत्व कहकर संबोधित करते हैं।

सौन्दर्य : कला का एक अन्य लक्षण

निर्मातृत्व जिस प्रकार कला का एक महत्त्वपूर्ण अंग है उसी प्रकार सौन्दर्य भी कला का दूसरा महत्त्वपूर्ण लक्षण है। सौन्दर्य के ध्येय को समक्ष रखकर ही कलाकार कला का निर्माण करता है। कला-निर्माण करते समय हम क्या कर रहे हैं इसकी कलाकार को केवल धुंधली-सी कल्पना होती है, यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। यह धुंधली-सी कल्पना ही सौन्दर्य की कल्पना है। इस कल्पना के धुंधली होने का कारण यह है कि वह सौन्दर्य के ध्येय को अपने समक्ष रखता है और इस सौन्दर्य के घटक की यद्यपि उसने मन ही मन बहुत-सी नियोजनाएँ की हैं फिर भी इस अवयव से कला का शरीर कौन-सी आकृति लेगा इसका उसे ज्ञान नहीं रहता, किन्तु कोई भी आकार लेने पर उसमें अवयव-अवयवी संबंध होता ही है। कुछ भी हो, सौन्दर्य का ध्येय कलाकार के सम्मुख होता है, सौन्दर्य कला का महत्त्वपूर्ण अंग होता है और कला से सहृदय को जो प्रतीति होती है वह सौन्दर्य की होती है, इसे न मानना निरर्थक है।

परन्तु विभिन्न कलाओं का एक ही सामान्य व्यवच्छेदक लक्षण खोजते हुए सौन्दर्य कला का एकमेव व्यवच्छेदक लक्षण है, ऐसा मानने का प्रयत्न स्व० मर्ढेकर प्रभृति श्रेष्ठ कलामीमांसकों के द्वारा किया गया है। किन्तु जिस प्रकार निर्मातृत्व कला का व्यवच्छेदक लक्षण नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार सौन्दर्य को भी कला का व्यवच्छेदक लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि अमुक कलाकृति सुन्दर है, ऐसा विधान करने के स्थान पर जो कुछ सुन्दर है वह कला है ऐसा विधान हमें करना पड़ेगा। किन्तु यह विधान प्रथम दर्शन में ही सदोष लगने लगता है। जो कुछ सुन्दर है वह यदि कला है तो प्रत्यक्ष का सूर्यास्त अथवा किसी स्त्री का मुखड़ा, चन्द्र का प्रतिबिम्ब अथवा कमलों से भरी हुई नदी इन्हें भी सुन्दर कहना पड़ेगा। इस शंका का समाधान करने का अनेक व्यक्तियों ने प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि निसर्ग के सौन्दर्य और कला के सौन्दर्य में अन्तर है। अमुक वस्तु सुन्दर है और अमुक कलाकृति सुन्दर है इसमें 'सुन्दर' विशेषण भाषा की दृष्टि से एक होने पर भी अर्थ की दृष्टि से एक नहीं है। इस विधान की पुष्टि के लिए एक युक्ति दी जाती है। वह यह कि सुन्दर यह विशेषण हम एक अर्थ में प्रयुक्त नहीं करते। सब्जी

सुन्दर बनी है, क्रिकेट का शाट सुन्दर मारा, कविता सुन्दर है और लड़की सुन्दर है, इन विधानों में सुन्दर विशेषण का एक ही अर्थ में प्रयोग हम कब करते हैं ? अर्थात् उपर्युक्त विधान में भी सुन्दर इस विशेषण के विभिन्न अर्थ निकालने की कल्पना मुझे स्वीकार्य नहीं है ।[1] किन्तु क्षणभर के लिए सुन्दर विशेषण को जैसा कि ऊपर कहा गया है विभिन्न प्रकार से हम प्रयुक्त करते हैं, यह स्वीकार कर लेते हैं। पर फिर भी सब्जी सुन्दर बनी है और लड़की सुन्दर है इन विधानों में सुन्दर पद विभिन्न प्रकार से प्रयुक्त है, यह जब हम स्वीकार कर सकते हैं तब उस प्रकार की भिन्नता सूर्यास्त सुन्दर है और सूर्यास्त का चित्र सुन्दर है इन दो विधानों में स्वीकृत की जा सकती है या नहीं इस विषय में शंका है। सूर्यास्त की कलाकृति का सौन्दर्य प्रकृति के सूर्यास्त के साम्य पर आधारित है। जब कलाकृति सुन्दर है यह विधान उसके निसर्ग के उसी प्रकार के अर्थात् प्राकृतिक साम्य पर आधारित होता है तब निसर्गाकृति विषयक प्रयुक्त विशेषण और कलाकृति विषयक प्रयुक्त विशेषण एक ही प्रकार का होता है, ऐसा मानने के लिए मैं बाधित होता हूँ। इस पर एक प्रश्न उठने की सम्भावना है कि कलाकृति में कलाकार के मन का एक वैयक्तिक अंश अधिक होता है। किन्तु केवल संवेदना की ही दृष्टि से विचार करने पर इस अनुभव की भिन्नता जब तक आकृति में साकार नहीं होती तब तक इस भिन्नता का भास नहीं होता। इसके अतिरिक्त अनुभव का अंश प्रत्येक ज्ञानप्रक्रिया में भी थोड़ा-बहुत होता ही है। और निसर्गाकृति और कलाकृति में जब प्राकृतिक साम्य होता है तब यह अंश ज्ञानप्रक्रिया के समानान्तर होने के कारण अहंनिरपेक्ष जगत् में साकार होकर प्रेक्षकों को दृष्टिगोचर नहीं होता। कल्पना करें कि कलाकृति का सूर्यास्त, और वास्तविक सूर्यास्त दोनों दीखने में एक दूसरे से बिलकुल मिलते हैं, तब उन दोनों में सुन्दरता के विषय में हम कौन-सा अन्तर कर पाएँगे ? मान लीजिए ईश्वरतुल्य शक्ति वाले एक कलाकार ने सम्पूर्ण क्षितिज के चित्रफलक पर जैसा का तैसा सूर्यास्त का चित्र बनाया तब कलाकृति के सूर्यास्त और वास्तविक सूर्यास्त में हमें क्या अन्तर दिखाई

---

१. इस पुस्तक का पहला लेख देखिए ।

देगा ? एक के विषय में सुन्दर इस विशेषण से हमें जो अभिप्रेत होगा वही दूसरे के विषय में भी होगा। एक कलाकृति है यह समझे बिना निर्माण का अंश हम कलाकृति में नहीं मिलाएँगे और सहृदयता से उस ओर नहीं देखेंगे।

दूसरे, कलाकृति का सौन्दर्य निसर्ग के सौन्दर्य से भिन्न है अथवा समान है इनमें से चाहे कुछ भी मान लें किन्तु सौन्दर्य की कल्पना हमें प्रकृति के सौन्दर्य से करनी पड़ेगी। प्रकृति के सौन्दर्य के उपमान से हम कलाकृति के सौन्दर्य की कल्पना 'उत्पन्न' करते हैं। जब हम अमुक एक कलाकृति सुन्दर है कहते हैं तब एक तो 'सुन्दर' यह शब्द 'निसर्ग सुन्दर है' इस विधान का 'सुन्दर' पद जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है उसी अर्थ में हमारे द्वारा प्रयुक्त होना चाहिए अथवा 'कलाकृति सुन्दर है' इस विधान का सुन्दर पद सावयव मिश्र (complex and consisting of many parts) होना चाहिए। किन्तु प्रकृति विषयक सुन्दर पद को यदि अवयव न हों तो कलाकृति में भी 'सुन्दर' यह पद सावयव नहीं बन सकेगा। क्योंकि वह अवयव निसर्ग के सुन्दर विशेषण के विश्लेषण करने पर ही मिलेगा। इसलिए सुन्दर यह पद निसर्ग में हो अथवा कलाकृति में हो सावयव कैसे हो सकता है, यह मैं नहीं समझ पाता।[1] इसलिए कलाकृति का सौन्दर्य और निसर्ग का सौन्दर्य एक ही प्रकार का होता है यह समझना उपयुक्त है। ऐसी स्थिति में सौन्दर्य कला का एकमेव व्यवच्छेदक लक्षण नहीं माना जा सकता। अर्थात् जो कलाकृति है, वह सुन्दर है अथवा जो कुछ सुन्दर है वह कलाकृति है, ऐसा विधान यद्यपि हम नहीं कर सकते तथापि जो कुछ सुन्दर नहीं वह कलाकृति नहीं, ऐसा विधान तो कम से कम हम कर ही सकते हैं। किन्तु जो कुछ कलाकृति नहीं वह सुन्दर नहीं ऐसा विधान हम नहीं कर सकेंगे। इस विधान से यह निश्चित किया जा सकता है कि सौन्दर्य और कला का सम्बन्ध किस प्रकार का है। सौन्दर्य कला का भाववाचक लक्षण न होकर असुन्दरता कला का निषेधात्मक लक्षण है।

सौन्दर्य को कला का व्यवच्छेदक लक्षण मानने का कारण हमें सौन्दर्यवाचक विधान में मिलता है। अमुक कलाकृति सुन्दर है, ऐसा

१. इस पुस्तक का पहला लेख देखिए।

सौन्दर्यवाचक विधान का स्वरूप होने के कारण सौन्दर्य को कलाकृति का घटक मानने की ओर हमारी प्रवृत्ति होती है। सौन्दर्य को कलाकृति का अंश समझ कर किसी अस्तित्ववाचक वस्तु के समान हम उस शब्द का प्रयोग करने लगते हैं। परिणामतः मेज लकड़ी की है इस विधान में लकड़ी को जिस प्रकार मेज का अंश मानते हैं उसी प्रकार मेज सुन्दर है अथवा कलाकृति सुन्दर है इस विधान में सौन्दर्य को हम कलाकृति का अंग मानने लगते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति इस प्रकार है कि सुन्दर भाववाचक विशेषण ही नहीं है। किन्तु भाववाचक विशेषण से जिस प्रकार हम भाववाचक संज्ञा बना सकते हैं उसी प्रकार भावेतरवाचक विशेषण से भी केवल व्याकरण का प्रत्यय लगाकर हम भाववाचक संज्ञा बना सकते हैं। सौन्दर्य इसी प्रकार की व्याकरण की भाववाचक संज्ञा है, अतः इससे सौन्दर्य सम्बन्धी और साथ ही कला सम्बन्धी सभी भ्रान्तियां उत्पन्न होती हैं। यद्यपि प्रत्येक कलाकृति से सम्बन्धित विधान में सुन्दर को विधेय के स्थान पर कल्पित किया जा सकता है तथापि कलाकृति उद्देश्यवाचक होती है और इसीलिए अस्तित्ववाचक घटकों की बनी हुई होती है। सुन्दरता उसका घटक नहीं होता यह समझना आवश्यक है। सुन्दरता को कला का घटक मानने के ही कारण, साम्य, विरोध, समतुल्यता इत्यादि अस्तित्ववाचक सम्बन्धों को (और कलाकृति के अथवा प्राकृतिक रचना के अंगों को) हम सौन्दर्य के रूप में समझने लगते हैं। और साम्य, विरोध, समतुल्यता इत्यादि शब्दों में सौन्दर्य की व्याख्या करने लगते हैं। वास्तव में साम्य, विरोध, समतुल्यता इत्यादि सौन्दर्य को स्पष्ट करने के चिह्न हैं। इनके अतिरिक्त भी सौन्दर्य को स्पष्ट करने के चिह्न हो सकते हैं और कलाकृति अन्त में प्राकृतिक अंश की ही बनी हुई होने के कारण इन चिह्नों के योग से हम जिस प्रकार नैसर्गिक सौन्दर्य को समझ पाते हैं, उसी प्रकार कलाकृति का सौन्दर्य भी हम जानने लगते हैं। किन्तु साम्य-विरोध-समतुल्यता के कारण हमें सौन्दर्य ज्ञान होता है यह सत्य होने पर भी साम्य-विरोध-समतुल्यता का अर्थ सौन्दर्य, ऐसा कहना उचित न होगा। और इस कारण कलाकृति का कलाकृतित्व निश्चित करते समय उसे केवल सौन्दर्य की ही कसौटी पर कसने से काम न चलेगा, क्योंकि साम्य-विरोध-समतुल्यता और

सौन्दर्य जिस प्रकार कलाकृति में दिखाई देते हैं, उसी प्रकार निसर्ग-कृति में भी दिखाई देते हैं।

कलाकृति और निसर्गकृति के बीच यदि सौन्दर्य की दृष्टि से अन्तर नहीं तो फिर उसमें अन्तर है कहाँ ? मेरे मत में यह अन्तर उनके सौन्दर्य में न होकर कलाकृति की निर्मिति की क्रिया में है। कला सुन्दर होने पर भी उसका समस्त वैशिष्ट्य उसके मनुष्य-निर्मातृत्व से उत्पन्न होता है। **जिस निसर्गनिर्मित वस्तु को सुन्दर कहा जा सकता है उस वस्तु से मिलती-जुलती प्रतिवस्तु उत्पन्न करना कला का प्रथम प्रकार है।** नैसर्गिक सौन्दर्य जानने के लिए साम्य-विरोध-समतुल्यता इत्यादि साधनों का हम उपयोग करते हैं। इन्हीं साधनों के कारण कला की उत्पत्ति होती है, यह स्वाभाविक है। परन्तु नैसर्गिक सौन्दर्य जानने के लिए हम केवल इन साधनों का प्रयोग करते हैं अथवा नहीं यह पहले देखना आवश्यक होगा। और मेरे विचार से इसका उत्तर निषेधात्मक है। चन्द्र की कला अथवा सूर्यास्त जिस प्रकार हमें अच्छा लगता है, उसी प्रकार निशा भी हमें सुन्दर लगती है। जिस प्रकार एक फूल हमें सुन्दर लगता है, उसी प्रकार उसी फूल के समान दीखने वाला दूसरा फूल अथवा पुष्पस्तबक भी हमें सुन्दर लगता है। जिस प्रकार कोई इन्द्रधनुष हमें सुन्दर लगता है, उसी प्रकार कड़कड़ाहट के साथ निमिषार्ध में लुप्त होने वाली विद्युल्लता भी हमें सुन्दर लगती है। इस सुन्दरता के चिह्न में साम्य-विरोध-समतुल्यता के अतिरिक्त क्या दूसरे चिह्न नहीं हैं ? मेरे विचार में साम्य-विरोध-समतुल्यता के साथ ही हमें कम से कम दो और चिह्न ध्यान में रखने चाहिएं—पहला अर्थात् अवयव और अवयवी—(शरीर) का सम्बन्ध। अवयव में कुछ भी जोड़ने अथवा घटाने पर भी अवयवी का अवयवित्व बना ही रहता है। किन्तु शरीर का शरीरत्व बना रहने पर भी अवयव जितने अधिक और उनकी स्थापना जितनी विविध होगी उतना ही सौन्दर्य का दर्शन अधिक होगा। चार पंखुड़ियों और सौ पंखुड़ियों के फूल की तुलना करने पर मेरा कथन अधिक स्पष्ट होगा। चार पंखुड़ियों से उस फूल का एक शरीर उत्पन्न होता है, और सौ पंखुड़ियों से भी फूल का एक ही शरीर उत्पन्न होता है, तो भी सौ पंखुड़ियों से उस फूल का कुल स्वरूप ही बदल जाता है। इसके अति-

रिक्त अवयव-अवयवी संबंध से अर्थ उत्पन्न होता है और ऐसे अर्थ का सौन्दर्य से अथवा कला से बहुत निकट का नाता होता है। दूसरा, यह आवश्यक नहीं कि केवल अवयव-अवयवी संबंध से ही वस्तु का सौन्दर्य दिखाया जा सके। उसी अवयव के अनेक प्रकार के शरीराकार बन सकते हैं। और इन विभिन्न प्रकार के शरीराकारों में भी एक सचेतन गतिमान प्रेरक तत्त्व रहता है। उदाहरणार्थ, विद्युल्लता में स्थिति १ + स्थिति २ + स्थिति......स्थिति 'न' सुन्दरता का निर्माण करते हैं यह कहना हमें अभिप्रेत नहीं होता वरन् स्थिति १ से लेकर स्थिति 'न' तक होने वाले संक्रमण हमें अभिप्रेत होते हैं। बिजली के चमकने की क्रिया में से यदि गतिमानता निकाल कर हमारे सामने रख दें तो वह सुन्दर न लगेगी। अतः स्पष्ट हुआ कि नैसर्गिक सुन्दर वस्तुओं के दो भाग करने चाहिएं। पहले भाग में अनेक अवयवों का एक स्थिर शरीर होता है और दूसरे में अनेक गतिमान अवयव-अवयवी संबंध से एक शरीरसाकल्य की निर्मिति होती है। पंखुड़ियां और फूल इनका सम्बन्ध पहले सौन्दर्य-प्रकार का निदर्शक है तथा कौंधने वाली बिजली दूसरे प्रकार के सौंदर्य का निदर्शक है। तात्पर्य यह कि सुन्दर वस्तुएं कौनसी हैं, इसका विचार करते हुए हमें उसके १. स्थिर तथा २. चल अथवा गतिमान् ऐसे दो प्रकार बनाने पड़ते हैं।

निसर्ग में भी सुन्दर वस्तुओं के यही दो भेद होते हैं, अतः कला-प्रकार के भी दो भेद करने पड़ेंगे। क्योंकि इन दोनों प्रकारों का सौन्दर्य किसी न किसी कला में लाने का कलाकार प्रयत्न करेगा। एक सुन्दर गुलाब का फूल देखकर उसी के सदृश एक अन्य फूल बनाना यह कला का एक प्रकार है। किन्तु कई बार एक ही पेड़ पर दीखने वाले गुलाब के फूल हवा के झोंकों से हिलते-डुलते से दीखते हैं। एक फूल दूसरे फूल से स्पर्श करता है। हवा के झोंके से वह दूसरे फूल के पास जाता है, पुनः दूर हटता है, फिर से उसके पास जाता है। चित्रकला में यह क्रिया दिखाना सम्भव नहीं है। किन्तु यदि किसी कला में ऐसी क्रिया साकार की जा सकती है तो वह दूसरे प्रकार की कला होगी। नृत्य, नाट्य, संगीत और काव्य इन कलाओं में इस प्रकार की गति होती है, यह मेरी धारणा है। इसी कारण चित्र, शिल्प इत्यादि को मैं पहले प्रकार की

कला मानता हूँ और नृत्य, नाट्य, संगीत, काव्य इत्यादि को दूसरे प्रकार की कला मानता हूँ।

किन्तु इन दोनों प्रकार की कलाओं के पुनः उपभेद करने होंगे। उदाहरण के लिए चित्रकला को लीजिए। प्रत्येक चित्र में रंगसंगति के द्वारा साम्य-विरोध-समतुल्यता की स्थिति तो होती ही है, चित्र की पार्श्वभूमि पर विभिन्न रंगों के द्वारा यह चित्रित किया जाता है। किन्तु इसके अतिरिक्त उस चित्र में एक अर्थ भी होता है। किसी चित्र को देखते ही कितने रंगों के कितने लेप हैं यह हम नहीं कहते। अपितु उन रंगों से एक आकार, एक अर्थ, एक 'गेस्टाल्ट' हमें अभिप्रेत होता है, चित्रगत वृक्ष, पशुपक्षी अथवा मनुष्य प्राणी ही हमें अभिप्रेत होते हैं और हम यह जान जाते हैं कि प्रस्तुत चित्र विश्वामित्र मेनका का अथवा तत्सदृश किन्हीं अन्य व्यक्तियों का है। जिस प्रकार रंगगत साम्य-विरोध समतोल के कारण हमें चित्र सुन्दर लगता है, उसी प्रकार यदि सत्य जगत् की मूलवस्तु सुन्दर है तो मूलवस्तु के सौन्दर्यानुरूप निर्मित चित्र भी हमें सुन्दर दिखाई देता है। प्रस्तुत कला-सौन्दर्य का प्रकार सत्यसृष्टि के सौन्दर्य के साम्य पर आधारित होता है। यही कारण है कि अनेक मासिकों के मुखपृष्ठ पर दीखने वाले सुन्दर स्त्रियों के चित्र हमें सुन्दर लगते हैं। किन्तु ऐसे पार्थिव साम्य पर आधारित कला-सौन्दर्य अत्यन्त प्राथमिक स्वरूप का होता है, यह समझाने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु प्राकृतिक साम्य से धीरे-धीरे वैचारिक अथवा मानसिक साम्य की ओर हम आकृष्ट होते जाते हैं और ऐसे सत्य के साक्षात्कार से ही हमें सौन्दर्य का दर्शन होता है। अर्थात्, स्पष्ट है कि ऐसा सौन्दर्य-दर्शन हमें केवल कलाकृति में ही प्राप्त हो सकता है। परिणामतः जिस प्रकार निसर्ग की सुन्दर वस्तु के साम्य के कारण कोई कलाकृति सुन्दर लगती है, उसी प्रकार निसर्ग की कुरूप वस्तु का चित्र भी हमें सुन्दर लगता है। किन्तु निसर्गगत और कलाकृतिगत साम्य निसर्ग की रंगसंगति और कलाकृति की रंगसंगति के साम्य से भिन्न होता है। साम्य पर आधारित रंगसंगति सत्य सृष्टि का एक प्राकृतिक अथवा पार्थिव घटक होता है। इसलिए सत्यसृष्टि की सुन्दर वस्तु और उसकी प्रतिकृति दोनों हमें सुन्दर लगती हैं। इसके विपरीत सत्यसृष्टि की कुरूप वस्तु हमें सुन्दर

नहीं लगती किन्तु उसकी प्रतिकृति हमें अवश्य सुन्दर लगती है। स्पष्ट है कि प्राकृतिक अथवा शारीरिक साम्य की अपेक्षा यह साम्य भिन्न प्रकार का होता है। जिस प्रकार शारीरिक साम्य के कारण सौन्दर्य की प्रतीति होती है, उसी प्रकार निःसंशय रूप से कुरूपता के साम्य से भी सौन्दर्य की प्रतीति होती है और ऐसे साम्य में ही नैसर्गिक सौन्दर्य का विरोध भी अन्तर्भूत होता है। संक्षेप में विभिन्न प्रकार के साम्य अथवा विरोध कलाकृति के अंग होते हैं और इन सबसे जब एक नवीन वस्तु उत्पन्न होती है, तब कलाकृति का अपने आप निर्माण हो जाता है।

कला के प्रकार

कला-निर्माण की प्रक्रिया सौन्दर्य-निर्माण की ही प्रक्रिया होने के कारण यह सौन्दर्यास्वाद के ठीक विपरीत प्रकार की प्रक्रिया है। सौन्दर्य की प्रतीति वस्तु के विश्लेषण से, उस वस्तु की आस्वादक पर हुई प्रतिक्रिया से और उस वस्तु में दीखने वाले अवयव-अवयवी (Parts and whole) संबंध से होती है। अतः स्पष्ट है कि कला का निर्माण करते हुए कलाकार इन्हीं द्रव्यों का संश्लेषण करेगा। इसी से कला का पुनर्निर्माणात्मक (Reproductive) विश्लेषणात्मक (Analytic) और प्रतिक्रियात्मक (Interpretative) वर्गीकरण करना पड़ेगा।

नैसर्गिक पार्थिव गुणों के साम्य से कलाकार जब कलाकृति का निर्माण करता है तब उसे पुनर्निर्माणात्मक कला की संज्ञा दी जा सकती है। विभिन्न रंगों की छटाओं को अधिकाधिक प्रस्फुटित करके उससे किसी चित्र या आकृति का निर्माण करने के प्रकार को अथवा स्वरों के कोमल, तीव्र, शुद्ध इत्यादि भेदों की कल्पना करके उससे विभिन्न राग उत्पन्न करने के प्रकार को विश्लेषणात्मक प्रकार कहा जा सकता है। इसी प्रकार किसी वस्तु को देखकर उस वस्तु के पार्थिव अथवा मानसिक घटकों का अन्तर्भाव करके अथवा किये बिना भी उससे सम्बन्धित अपनी प्रतिक्रिया से और संकेत से एक अवयव-अवयवी-सम्बन्ध का जब कलाकार निर्माण करता है तब उस कला को प्रतिक्रियात्मक[1] (Inter-

---

१. एक तरह देखा जाए तो सभी कलाएँ प्रतिक्रियात्मक ही होती हैं।

pretative) कला कहा जा सकता है। किन्तु कला चाहे विश्लेषणात्मक हो चाहे प्रतिक्रियात्मक हो, उसके विभिन्न अंगों से प्रतीयमान अर्थ स्पष्ट हो या अस्पष्ट हो, कला के सभी अंगों का हम स्फुट अंग अथवा अवयव मानकर विचार नहीं करते वरन् समग्र रूप से विचार करते हैं। और इसी समग्रता से सौन्दर्य की उत्पत्ति और प्रतीति होती है।[1]

प्राकृतिक सुन्दर वस्तु का जब हम निरीक्षण करते हैं तब उसकी सुन्दरता का आविष्कार रंग, स्वर इत्यादि घटकों के साकल्य से होता है, यह हमें विदित होगा। इसके विपरीत निसर्ग की असुन्दर वस्तु का जब हम 'सुन्दरीकरण' करते हैं तब इस कलाशरीर में नैसर्गिक घटकों के साथ ही कुछ मनोनिर्मित[2] घटक भी प्रवेश करते हैं तथा वाङ्मयीन कलाकृति में नैसर्गिक घटक धीरे-धीरे अस्पष्ट होते जाते हैं और मनोमय घटक अधिकाधिक प्रभावी होते जाते हैं। किन्तु ये घटक चाहे मनोमय हों चाहे पार्थिव हों, निसर्गाकृति में हों अथवा कलाकृति में हों, अस्तित्ववाचक ही होते हैं। और इसीलिए जैसा कि पहले लेख में कहा जा चुका है सु१—सं—सु ऐसा यदि सौन्दर्यवाचक विधान का स्वरूप माना जाए तो ये सारे घटक सु१ इस उद्देश्यवर्ग के होते हैं तथा सु इस विधेयवर्ग के नहीं। उपमा ही देनी हो तो कहा जा सकता है कि 'रंग' नामक गुण विभिन्न पादार्थिक तरंगों में जन्म लेने पर भी रंग होने के कारण वह रंग ही रहता है, वह निरवयव ही रहता है। पादार्थिक तरंगों की तथा रंगों की एक ही आधारभूमि नहीं होती। इसी प्रकार पार्थिव अथवा मनोमय घटकों में से ही सौन्दर्य की उत्पत्ति होने पर अथवा इन घटकों के साकल्य

---

१. अवयव-अवयवी संबंध एक ही कला के अंश के लिए मर्यादित नहीं रहता। कई बार दो अथवा अनेक कलाओं में भी अवयव-अवयवी संबंध धर्म आ सकेगा और उसमें से कोई पुष्ट कला उत्पन्न हो सकेगी। नृत्य और नाट्य-कला ऐसी ही कलाएँ हैं यह मैं समझता हूँ और इस कारण से शुद्धकला और पुष्टकला इस प्रकार का वर्गीकरण मैं उपयुक्त समझता हूं। स्व० मर्ढेकर को यह मान्य नहीं है।

२. वास्तव में यह मनोनिर्मित घटक सूक्ष्म होने पर भी प्रत्येक कलाकृति में निहित होता है।

के अनुषंग से 'सुन्दर' विशेषण का प्रयोग करने पर भी सुन्दर का विश्लेषण अस्तित्ववाचक घटकों में नहीं किया जा सकता। अस्तित्ववाचक घटकों की तथा सुन्दर विशेषण की आधारभूमि अथवा जाति एक ही नहीं होती। कलाकृति के सौन्दर्य तथा निसर्ग के सौन्दर्य में जब हम भेद करते हैं तब हमारे कहने का उद्देश्य यह कदापि नहीं होता कि सुन्दर विशेषण के दो प्रकार हैं। यदि एक में अवयव-अवयवी संबंध का 'क्ष' भाग हो तो दूसरे में 'क्ष+य (कुछ संख्या)' का भाग होता है, केवल यही कहना हमें अभिप्रेत होता है। और यह भाग चाहे 'क्ष' हो, अथवा 'क्ष+य' हो अथवा 'क्ष+क्ष१क्ष······क्ष न' हो, इन सबका परिणाम एक ही होता है और वह है 'सुन्दर' इस विशेषण का आविष्कार। जब हम यह कहते हैं कि कलाकृति में और प्रकृति में दीखने वाले सौन्दर्य में अन्तर होता है, तब हमें वास्तव में यह अभिप्रेत नहीं होता कि यह अन्तर सौन्दर्य में है। अपितु हमारे कहने का अभिप्राय केवल इतना ही होता है कि इस सुन्दरता में मनोमयता और निर्मातृत्व ये भी भाग होते हैं। जब हमारा यह मत बन जाता है कि सौन्दर्य अवयव और अवयवी अथवा अंश और साकल्य इनमें से निर्मित होने वाला एक गुण है, तब नैसर्गिक भाग धीरे-धीरे कम होता जाता है तथा मानसिक भाग बढ़ता जाता है। किंबहुना, सभी मानसिक भाग होने पर भी उनमें से निर्मित होने वाले एकात्मक प्रभाव को भी हम सौन्दर्य कहकर ही सम्बोधित करते हैं। किन्तु यह सौन्दर्य उपमान से सौन्दर्य नामाभिधान को प्राप्त हुआ है। अतः निसर्ग के सौन्दर्य और कला के सौन्दर्य में इस प्रकार के भेद करने की हमारी प्रवृत्ति होती है। किंतु अंश नैसर्गिक हो अथवा न हो, अंश का पूर्ण में जब रूपान्तर होता है तब सुन्दर नामक निरवयव गुण का हमें साक्षात्कार होता है। ऐसी वस्तुस्थिति में कला का सौन्दर्य भिन्न होने पर भी उसके स्वरूप को भिन्न मानने का कोई कारण दिखाई नहीं देता। मनोमय अथवा भावमय अंशों को ही साकार करना कला का वास्तविक उद्देश्य बन जाता है।

कला की मीमांसा करते समय कला से सम्बद्ध अनेक गुणों तथा अनेक अंगों पर विचार करना आवश्यक होगा। अन्यथा कला की

मीमांसा पूरी नहीं होगी और कला की व्याख्या भी न हो सकेगी। कला और कारीगरी का परस्पर सम्बन्ध अथवा कला और मनोरंजन का सम्बन्ध, कला की सिद्धि अथवा कला का सांस्कृतिक स्थान, कला की मानसिक पार्श्वभूमि इत्यादि प्रश्नों का विचार कलामीमांसा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु इन सभी प्रश्नों की गहराई में जाना मेरे अधिकार के बाहर की बात है। अतः यह मीमांसा यहीं अधूरी छोड़नी पड़ रही है। किन्तु इस कथा के उपसंहार में एक बात कहने की इच्छा होती है। आज दो प्रकार के कलामीमांसक दिखाई देते हैं। कतिपय आलोचक निर्माण पर आधारित कलामीमांसा को सत्य समझते हैं, तो कतिपय आलोचक सौन्दर्य और संवेदना पर सारा बल देते हैं। प्रस्तुत दोनों प्रकार की कलामीमांसा एकांगी है। कलामीमांसा करते समय इन दोनों अथवा अन्य अवयवों पर भी विचार करना अपेक्षित है। उपर्युक्त विवेचन से इतना भी यदि सिद्ध हो सके तो इस लेख का प्रयोजन पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार के समन्वय में ही कला-प्रयोजन के प्रश्न का उत्तर मिलने की सम्भावना है। कलामीमांसा की ओर सर्वांगीण दृष्टि-कोण से देखकर कला की व्याख्या करने का प्रयत्न करना और यह सम्भव होने तक कला में निहित अधिक से अधिक गुणों का संशोधन और वर्गीकरण करना ही कलामीमांसक का प्रमुख कर्तव्य है।

४ | सौन्दर्यवाचक विधानगत उद्देश्य

काव्य के घटक

कला के सामान्य लक्षणों पर विचार करते समय हमें एक बात दिखाई देती हैं। प्रत्येक कला अवयवी होती है तथा कला और उसका घटक इनमें एक अवयव-अवयवी संबंध होता है। इसी अवयव को स्व० मर्ढेकर साम्य-विरोध-समतोल लयों से निर्मित 'पद्मबंध' के रूप में सम्बोधित करते हैं। इस अवयवी और अवयव-अवयवी संबंध के अतिरिक्त जिसे स्व० मर्ढेकर साम्य-विरोध-समतोलता कहते हैं वे भी कला में ही होने चाहिएँ। इसके अतिरिक्त कला यदि चल हो तो अवयव-अवयवी का एक गतिशील सम्बन्ध भी वहाँ उत्पन्न हो जाएगा। सामान्य कला के विषय में प्रतीयमान प्रस्तुत गुण, काव्य, नृत्य, नाट्य इत्यादि कलाओं में भी उपलब्ध होना चाहिए। अब प्रश्न उठता है कि काव्य के विषय में जिन अवयवों से एक अवयवी अथवा शरीर निर्माण होता है, वे अवयव कौन से हैं ?

किन्तु इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। यह कलाकृति सुन्दर है, अथवा अजंता के चित्र सुन्दर हैं, आदि सौन्दर्यवाचक विधान बनाए जाते हैं। किंतु इससे इस विधान के उद्देश्य सम्बन्धी किये गये किसी भी विधान को सौन्दर्यवाचक समझना ठीक नहीं है। सौन्दर्यवाचक विधान के उद्देश्य संबंधी एक अथवा अनेक अस्तित्ववाचक विधान किए जा सकते हैं। अजंता के चित्र सुन्दर हैं, यह विधान हम जिस प्रकार करते हैं उसी प्रकार 'अजंता के चित्र पत्थर पर खुदे हुए हैं, अजंता के चित्रों में बुद्धचरित्र की विभिन्न कथाओं का वर्णन किया गया है' इत्यादि विधान भी हम कर सकते हैं और वे सभी विधान सौन्दर्यवाचक नहीं होते। इतना ही नहीं वे उद्देश्य का स्पष्टी-

करण करने वाले भी होते हैं और ऐसे ही विधानों में से उद्देश्य का अवयव स्पष्ट होता है।

किसी काव्य के सम्बन्ध में हम तीन प्रकार के विधान बनाते हैं— 'यह काव्य सरस है', 'यह काव्य सुन्दर है', 'यह काव्य आनन्ददायक है'। यदि कोई इनमें से किसी विधान का अर्थ पूछता है तो हम पहले विधान का अर्थ समझाने के लिए दूसरा विधान करते हैं तथा दूसरे विधान का अर्थ समझाने के लिए तीसरा विधान करते हैं। इन विधानों में से एक विधान सौन्दर्यवाचक विधान है। इसी कारण सभी को सौन्दर्यवाचक विधान समझने की सम्भावना हो जाती है। अतः क्या ये सारे सौन्दर्य-वाचक विधान हैं, यदि हैं तो यह देखना आवश्यक हो जाता है कि काव्य के अवयव-अवयवी संबंध पर प्रकाश डालने में समर्थ काव्य के अवयव सम्बन्धी कुछ अस्तित्ववाचक विधान हम कर सकेंगे अथवा नहीं। रस तथा आनन्द को समानार्थी मानकर हम उनका शताब्दियों से प्रयोग करते आ रहे हैं। इसी से 'यह काव्य सरस है' तथा 'यह काव्य आनन्द-दायक है' इन दोनों विधानों को हम समानार्थी समझने लगे हैं। अर्थात् यह देखना होगा कि क्या वास्तव में ही सरस तथा आनन्ददायक समानार्थी शब्द हैं? किन्तु उसके लिए रस का स्वरूप समझ लेना अनिवार्य होने के कारण कुछ देर के लिए इस चर्चा को यहीं छोड़कर हम पहले यह देखेंगे कि 'यह काव्य सुन्दर है' और 'यह काव्य आनन्द-दायक है' ये विधान समानार्थी हैं या नहीं? मेरे मत में दोनों विचार एक ही प्रकार के नहीं हैं। 'यह काव्य सुन्दर है' यह अनुभवनिष्ठ विधान होने पर भी वह काव्यसंबंधी, अर्थात् ज्ञेयसंबंधी, आस्वाद्यसंबंधी किया हुआ विधान है। आस्वाद्य के अस्तित्व को अस्वीकार करके कोई भी सौन्दर्यवाचक विधान नहीं किया जा सकता। 'यह काव्य सुन्दर है' यह जब हम कहते हैं तब मुझे यह अभिप्रेत नहीं होता कि मेरे मन की अवस्था सुन्दर है। सौन्दर्य यह मन की अवस्था न होने के कारण ही अस्तित्ववाचक नहीं है अपितु 'यह काव्य आनन्ददायक है' ऐसा जब हम कहते हैं तब वह सच्चे अर्थों में विधान ही नहीं है, ऐसा मैं समझता हूँ। मेरी यह धारणा है कि इस विधान में दो विधान आपस में उलझ गये हैं। वे विधान हैं—१ यह काव्य है। २— मैं आनन्दित होता हूँ।

इनमें से पहला विधान ज्ञेयसंबंधी है और अस्तित्ववाचक है। दूसरा ज्ञाता-संबंधी तथा अस्तित्ववाचक है। जब 'यह काव्य सुन्दर है' यह हम कहते हैं तब हमारे कहने का अभिप्राय यह कदापि नहीं होता कि 'यह काव्य है' और 'वह मुझे सुन्दरित करता है'। 'यह काव्य आनन्ददायक है' ऐसा जब हम विधान करते हैं तब इस विधान के स्पष्टीकरण से उत्पन्न होने वाले इन दो प्रमेयों से एक प्रकार का धुँधला-सा कार्यकारण संबंध दिखाई देता है। 'यह काव्य है' यह कारण है तथा मैं आनन्दित होता हूँ, यह कार्य है। यदि 'यह काव्य है' यह ज्ञान मुझे काल का१ में होता हो तो काल का२ में मैं आनन्दित होऊंगा। कुल मिलाकर इस प्रकार का काल-वाचक संबंध 'यह काव्य है' और 'मैं आनन्दित होता हूँ' इस विधान में है। जब विधान एक होता है तब इस प्रकार का कालवाचक संबंध उद्देश्य और विधेय में नहीं होता। 'यह काव्य सुन्दर है' ऐसा जब हम कहते हैं तब सौन्दर्य की[1] अवस्था मुझमें बाद में आती है और वह केवल मुझ तक ही सीमित होती है, यह निश्चित रूप से हमारे कथन का अभिप्राय नहीं है। अतः 'यह काव्य सुन्दर है' और 'यह काव्य आनन्ददायक है' इन विधानों को समानार्थक समझना सर्वथा अनुचित है वैसे तो वाक्-प्रचार के कारण इस प्रकार के विधान हम कई बार करते हैं। 'सौन्दर्य-शोध आणि आनन्दबोध' इस पुस्तक में भी इस प्रकार के विधान कई स्थलों पर दिखाई देते हैं। किन्तु मेरे विचार में सम्भवतः यह जानबूझ कर नहीं किया गया है। निश्चित रूप से इस प्रकार के प्रयोगों से दिग्भ्रान्ति होने की अधिक सम्भावना होती है अतः इस प्रकार के वाक्प्रयोग हमें टालने चाहिएँ।

'यह काव्य आनन्ददायक है' तथा 'यह काव्य सुन्दर है' ये विधान समानार्थक नहीं हैं तो इससे एक बात सिद्ध होनी चाहिए। जो सुन्दर है वह आनन्ददायक होगा ही, किन्तु जो आनन्ददायक है उसका सुन्दर होना अनिवार्य नहीं होना चाहिए। इसी से किसी भी कला (काव्य, नाट्य

---

१. 'यह काव्य है' इसका ज्ञान 'यह काव्य सुन्दर है' इससे पूर्व हो सकता है। किन्तु 'यह काव्य है' और 'यह सुन्दर है' ऐसा कालवाचक और कार्यकारण संबन्धात्मक ज्ञान हमें नहीं होता। इसी कारण 'यह काव्य सुन्दर है' इसका विभाजन करके उसमें पूर्वापर संबन्धदर्शक एक से अधिक विधान हम नहीं दिखा पाते।

इत्यादि भी) के लिए आनन्ददायकत्व को कसौटी निर्धारित करना अनुचित होगा। अर्थात् हमारा रससिद्धान्त यदि आनन्द-सिद्धान्त हैं तो काव्य का काव्यत्व निश्चित करते समय उसका किंचिन्मात्र भी उपयोग नहीं होगा। किन्तु सुन्दर और आनन्ददायक समानार्थी शब्द मानने पर भी कला का कलात्व निर्धारित करते समय अथवा काव्य का काव्यत्व निश्चित करते समय उद्देश्य का विश्लेषण करके उसका अवयव-अवयवी-सम्बन्ध स्पष्ट करना अनिवार्य होगा। अतः, केवल 'सुन्दर अथवा आनन्ददायक' इस प्रकार के विधानों से कला की अथवा काव्य की व्याख्या करना सदोष होगा। काव्य का स्वरूप निर्धारित करने के लिए काव्य का विश्लेषण करना आवश्यक है। काव्यत्व की स्थिति हमारे मन में पहले से ही होती है, यह कहना निश्चित रूप से पर्याप्त नहीं होगा। 'यह काव्य सुन्दर है' इस विधान में उद्देश्य से सम्बन्धित हम कौन से अस्तित्ववाचक विधान कर सकेंगे? काव्य नामक पदार्थ का शारीरिक घटक कौनसा है? जगन्नाथ[1] ने (रमणीय) अर्थ और शब्द को घटक माना है।

शब्द, अर्थ तथा अनुभव

इस विषय में स्व० मर्ढेकर के विचारों को जान लेना आवश्यक होगा। श्री मर्ढेकर लिखते हैं—

'तब ललितवाङ्मय की पहली महत्त्वपूर्ण कसौटी शब्दों की है, वे शब्द चाहे चूहों द्वारा प्रयुक्त हों अथवा राणा भीमदेव द्वारा, हमारे सामने पहले शब्द होने चाहिएँ, इसके बाद ही आगे की बात होगी। किन्तु केवल शब्द होना पर्याप्त न होगा अपितु शब्द किसी ऐसे विशिष्ट अनुक्रम में आने चाहिएँ जिससे अर्थ की उत्पत्ति हो।'[2] 'इस प्रकार के ये शब्द वाङ्मय के परमाणु अथवा 'Atoms' होते हैं। शब्दों के इन परमाणुओं पर ही ललितवाङ्मय की सृष्टि आधारित होती है।'[3] इन्हीं शब्दों में से वाक्य (और काव्य भी) निर्मित होता है। वाक्य का अर्थ है शब्दों के अनुभवों के आकारों को एक विशिष्ट स्वरूप में बांधकर तैयार

१. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।
२. 'सौन्दर्य आणि साहित्य', पृ० १११
३. वही, पृ० १११

किया गया एक पद्मबंध'।[1]

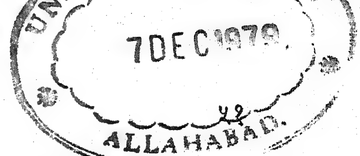
प्रस्तुत पद्मबंध यदि साम्य-विरोध, समतोल-लयनिष्ठ है तो उसे वाङ्मयीन कला के रूप में सम्बोधित किया जा सकता है। उपर्युक्त परिच्छेद में श्री मर्ढेकर-प्रयुक्त तीन शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—'शब्द', 'अर्थ' और(शब्दों में संघटित) 'अनुभव'।

विभिन्न शब्दों—अर्थातिरिक्त शब्दों—को एकत्र गुम्फित कर यदि हम उसमें से एक आकार—एक शरीर—उत्पन्न कर सकें और इस प्रकार के शरीर के लिए या अवयवी के लिए 'वह सुन्दर है' इस प्रकार का हम विधान कर सकें तो वह भी एक कला होगी। 'अश्वधाटीवृत्त' अथवा शब्दालंकारगत यमक, अनुप्रास आदि इसी प्रकार के कलारूप बन जायेंगे। किन्तु जिस प्रकार शब्दों से शब्द का पद्मबंध तैयार किया जा सकता है उसी प्रकार शब्दों से अर्थ का पद्मबन्ध भी तैयार किया जा सकता है और प्रस्तुत पद्मबन्ध भी अनेक प्रकार का हो सकता है। इसी में से काव्य के चित्र, गुणीभूत व्यंग, और ध्वनि इत्यादि प्रकार उत्पन्न हुए हैं। 'लीला कमल-पत्राणि रचयामास पार्वती' इस पदसमुच्चय को उसके अर्थ की ओर ध्यान न देकर देखा जाए तो कुछ शब्द एक के बाद एक आए हैं, इतना ही इससे हम समझ पाएंगे। किन्तु उसके अर्थ की ओर अनेक प्रकार से देखा जा सकता है। एक अर्थ तो यह हुआ कि पार्वती कमलपत्र से क्रीड़ा करने लगी। किन्तु इतना ही अर्थ करने वाले को हम अरसिक कहेंगे। इनमें से प्रत्येक शब्दार्थ अन्य किसी आशय का वाहक होता है। प्रत्येक शब्दार्थ किसी न किसी घटना की ओर संकेत करता है। स्व० मर्ढेकर की भाषा में कहा जाए तो कहना होगा कि शब्दों के चारों ओर एक आवरण होता है और इस आवरण में ही मानो कुछ उत्कृष्ट प्रकार का मधु संलग्न रहता है। कमलपत्रों से क्रीड़ा करना, पाँव की ओर देखना, मुँह में एक विशिष्ट प्रकार से उंगली डालना अथवा आँचल से खेलना

---

१. सौन्दर्य आणि साहित्य, पृ० १२०
पद्मबन्ध यह शब्द स्व० मर्ढेकर ने अलंकारशास्त्र से लिया है तथा शब्दों की एक विशिष्ट प्रकार की रचना के लिए वह रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः उन शब्दों से उलझन और शाब्दिक तंत्रवाद (Formalism) निर्मित होने की सम्भावना के कारण ही मैंने यह अवयवी शब्द सुझाया है।

इत्यादि शब्दों में से प्रेमभावना का मधु झरने लगता है, किंबहुना प्रेमभावना शब्दसमुच्चय से एकरूप हो जाती है। शब्दों के चारों ओर इस प्रकार का झीना आवरण होने के कारण ही कवि अपना कोमल अनुभव शब्दों में व्यक्त करता है और इस अनुभव का जो शरीर—अवयवी अथवा पद्यबंध कवि के मन में काव्यरचना के समय निर्मित होता है वह शब्द माध्यम में संग्रहीत रहता है। प्रस्तुत शब्द-माध्यम में परिवेष्टित इस अनुभव को सहृदय पुनः उद्घाटित करता है और जितनी अधिक मात्रा में सहृदय में सहृदयता होगी उतनी ही अधिक मात्रा में वह उन शब्द-पंक्तियों में अनुभव को साकार कर सकेगा। सहृदय का कवि से एकाकार होने का अभिप्राय यह निकलता है कि कवि का अनुभव और सहृदय का अनुभव एक प्रकार का, एक जैसा या एक-सी-ही शक्ति रखने वाला होता है। कवि का भावनामय अनुभव यदि 'क्ष' होगा तो सहृदय का भावनामय अनुभव 'क्ष १' रहेगा। प्रस्तुत कवि सहृदय-संबंध से उत्पन्न तत्त्व को ही स्व० मर्ढेकर 'भावनानिष्ठ समानता' (Emotional equivalence) की संज्ञा देते हैं। यह भावनामय अनुभव काव्य के लिए अथवा कला के लिए नितांत आवश्यक है। परन्तु इस अनुभव का तात्पर्य कला नहीं है। जिस माध्यम-परिवेष्टित वस्तु के कारण सहृदय को कलाकार के अनुभव का साक्षात्कार होता है वह वस्तु ही कलाकार के अनुभव का साकारीकरण अर्थात् कला कहलाती है और काव्य की भाषा में कहना हो तो वह कवि के मन में नहीं होती अथवा सहृदय के मन में नहीं होती वरन् शब्दों में होती है। रंगसंगति के बिना जिस प्रकार चित्र नहीं होता, स्वर के बिना जिस प्रकार संगीत नहीं होता, रंगभूमि में पात्रों के बिना जिस प्रकार नाट्य नहीं होता उसी प्रकार शब्दों के बिना काव्य भी नहीं होता। यदि काव्य को कवि के मन में ही स्थित कल्पित करना है तो संसार का कोई भी सहृदय मनुष्य, कवि ही क्या वरन् संसार का बड़े से बड़ा चित्रकार, नृत्यकार, गायक, वादक तथा संक्षेप में कहें तो चौसठ कलाओं में पारंगत कलाकार बन सकेगा। किन्तु ऐसा नहीं होता। अनुभव और अर्थ काव्य के लिए आवश्यक होने पर भी वे शब्दों से अभिन्न होने चाहिएं। भरतमुनि की भाषा में कहा जाए तो शब्द काव्य के आलंबनविभाव और उनका परिवेष्टन या वलय उद्दीपन विभाव है।



काव्य के अवयव संबंधी अस्तित्ववाचक विधान करते समय, और वह किन अस्तित्ववाचक घटकों से बना हुआ है इस पर विचार करते समय एक बात स्पष्ट हो जाती है कि काव्य-निर्मिति का आधार शब्द है । अधिक विस्तार में कहना हो तो यही कहना होगा कि शब्द, अर्थ और भावनामय अनुभव के साकल्य से काव्य निर्मित होता है । शब्दों को उनमें से निकाला नहीं जा सकता । अनेक काव्यशास्त्रज्ञों के मत में काव्य के लिए रस की आवश्यकता है । शब्द और उससे व्यक्त होने वाले भावनामय अनुभव—अर्थ—का शरीर 'रस' है, ऐसी मेरी रसविषयक सामान्य स्थापना है । "विभावानुभावव्यभिचारिसंबन्धात् रसनिष्पत्तिः' यह भरतमुनि का कथन है । नाट्यसृष्टि में तो विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव दिखाये जा सकते हैं । काव्य में इन्हें कैसे दिखाया जा सकेगा यह एक प्रश्न ही बना हुआ है । नाटक में राम-लक्ष्मण-सीता आदि को विभाव कहा जा सकता है । परन्तु 'मेरो मन अनत कहां सुख पावै' इस पंक्ति में मेरो और मन ये विभाव और सुखपावै को व्यभिचारी भाव मानना हास्यास्पद होगा । काव्य में शब्दों को ही विभाव माना जाएगा । यदि ऐसा मानें तो अष्ट सात्विक भाव, अनुभाव आदि शब्दों के विषय में संभव नहीं होते । और मनुष्यमात्र के विषय में ही इनकी स्थिति संभव है, अतः यदि विभावानुभावादि के बिना रस नहीं होता यह कहा जाए तो किसी भी काव्य में रस की स्थिति नहीं होगी । किन्तु रस का सिद्धान्त मूलतः नाट्य का सिद्धान्त है, यह ध्यान में रखना नितांत आवश्यक होगा । इस कारण काव्यक्षेत्र में रससिद्धान्त की स्थापना करते समय 'विभावानुभावव्यभिचारिसंबन्धात् रसनिष्पत्तिः' इस सूत्र में अभिप्रेत अवयव-अवयवीभाव ही हमें ध्यान में रखना चाहिए । प्रत्येक स्थान पर 'विभावानुभाव-व्यभिचारि' आदि का ही एक पद्मबंध होना अनिवार्य नहीं है, वरन् इनमें से कतिपय को अथवा सभी को मिलाकर एक पद्मबंध उत्पन्न करना चाहिए, यही भरत को अभिप्रेत था । यह कहना सही नहीं है कि नाटक में भी प्रत्येक क्षण में अनुभावों को स्थान प्राप्त रहता है ।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस अवयव से एक अवयवी शरीर उत्पन्न हो सकेगा ऐसा कौन-सा काव्य का अवयव है ? इसका स्पष्ट उत्तर है—'शब्द' और उस शब्द का 'सरल अथवा ध्वनित अर्थ' । प्रस्तुत

शब्द और अर्थ से उत्पन्न पद्मबंध को ही मैं रस[1] रूप में संबोधित करता हूँ।

रस, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव

रस और विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव ये कल्पनाएं और अधिक स्पष्ट करनी होंगी। ये कल्पनाएं मूलतः नाट्य की होने के कारण नाट्यशास्त्र के अनुषंग से ही इनका स्पष्टीकरण करेंगे। उदाहरण के लिए निम्नलिखित नाट्यप्रसंग लीजिए—'कैकेयी का महल, कुछ धुंधला प्रकाश, आँखें फाड़कर और बाल खोलकर कैकेयी खड़ी है। मानों उसकी आँखों से अग्निस्फुल्लिग बाहर निकल रहे हैं। उसके पाँव पकड़े दशरथ पड़े हुए हैं। वह उसे घसीट रही है। और कुछ दूरी पर वल्कल परिधान किए हुये राम, लक्ष्मण और सीता खड़े हुए हैं। राम नम्र हैं, लक्ष्मण किंचित् होठ चबा रहे हैं और सीता की आँखों से अश्रु बह रहे हैं। कुछ अन्तर पर नागरिकों की भीड़ जमा है। उनके नेत्रों में आवेश दिखाई दे रहा है।'

उपर्युक्त प्रसंग की प्रत्येक बात अस्तित्ववाचक है और ध्वनित हुई हो अथवा स्पष्ट रूप से स्थापित की गई हो, कला के लिए आवश्यक है। क्या इस अस्तित्ववाचक वस्तु का वर्गीकरण संभव है? भरतमुनि ने इसे वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। उनके सन्मुख रंगमंच था। नाट्य के लिए उन्होंने इस प्रसंग का चार भागों में वर्गीकरण किया होता। यही नहीं, इस प्रकार का कोई भी प्रसंग चार भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है, यही उनका कथन है। कैकेयी, दशरथ, राम, लक्ष्मण, सीता और नागरिक यह एक भाग, बिखरे बाल, वल्कल धारण, महल, प्रकाश की योजना इत्यादि दूसरा भाग, अश्रु बहाना, आँखों से स्फुर्लिलग निकलना इत्यादि तीसरा भाग और मूर्छित होना इत्यादि चौथा भाग। इन चार भागों की भरत ने क्रमशः आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी अथवा व्यभिचारी भाव ये संज्ञाएं दी हैं। भरत का वर्गीकरण स्थूल है, सूक्ष्म नहीं है। इसके अतिरिक्त यह वर्गीकरण विशेषरूप से नाट्य के लिए किया

---

१. यह अर्थ भरत को अभिप्रेत था अथवा नहीं इसका आगे स्पष्टीकरण होगा।

गया है। किन्तु फिर भी काव्य, नृत्य अथवा चित्र के कुछ अथवा सभी अंश लेकर उनका एक अवयवी-शरीर बनना चाहिए। किन्तु विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव ये मनोभाव नहीं हैं। वे साकल्य से किसी अर्थ के निदर्शक होते हैं। निर्माता का भावनामय अनुभव केवल इस सांचे में से साकार होता है। इस कारण विभावानुभावादि से प्रगट होने वाला निर्माता का अनुभव अथवा स्थायीभाव भी कला का एक महत्त्वपूर्ण घटक माना जाएगा। यह स्थायी कवि के मन में होगा, कलाकार द्वारा अनुभूत होगा और सहृदय के मन में उत्पन्न होगा। किन्तु यह किसी भी कला में प्रत्यक्ष रूप से प्रगट कभी भी नहीं हो सकेगा। भरत के शब्दों में वाणी, अभिनय और शरीरसंवेदना के योग से ही स्थायीभाव समझे जा सकते हैं। ऐसे वागंगसत्व युक्त स्थायीभावों को ही 'रस' कहते हैं। एक अन्य स्थान पर भरत का सूत्र है—विभावानुभाव व्यभिचारी संबंधात् रसनिष्पत्तिः'। तात्पर्य—प्रथम स्थायीभाव के प्रगटीकरण के लिए आवश्यक विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और वाग् तथा अंग ये भाग बनाए गए और यह कहा गया कि इन अवयवों के संश्लेषण से कला उत्पन्न होती है। मेरे विचार में भरत ने इस अस्तित्ववाचक संश्लेषण को ही रस[1] कहा है। मेरे विचार में वह रस हो अथवा न हो, चित्र, नृत्य, काव्य, नाट्य इत्यादि कलाओं के लिए इन अवयवों की आवश्यकता होगी और इनका जब एक अवयवी, एक शरीर निर्मित किया जाएगा तभी उसको कला का स्वरूप प्राप्त होगा। संगीत अथवा काव्य को इन सभी अवयवों की आवश्यकता नहीं होगी। किन्तु अवयवों की संख्या निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं है। वरन् अवयव-अवयवी-संबंध महत्त्वपूर्ण है। और कला का कलात्व निर्धारित करते समय घटक और उनका सम्बन्ध ध्यान में रखना निश्चित रूप से अनिवार्य है। मेरे विचार में ऐसे अवयवयुक्त अवयव-अवयवी संबंध को ही भरत रस कहते हैं और ये रसवाचक विधान भी अस्तित्ववाचक और विभाव-अनुभाव-व्यभिचारिभाव का संयोगसंबंध दिखाने वाले होते

---

१. 'इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्।' नाट्यशास्त्र के (अ १९० श्लोक१) इन वचनों से स्पष्ट होता है कि भरत का उद्देश्य नाट्य का शरीरघटक ही वर्णन करना था।

हैं। अभिनवगुप्त से लेकर डा० वाटवे तक सभी विद्वानों की धारणाएं इसके विपरीत हैं। इनके मत में रसवाचक विधान अस्तित्ववाचक न होकर आनंदवाचक अर्थात् परिणामवाचक, द्विविधानात्मक होते हैं। किन्तु इस मत-भिन्नता को छोड़ भी दिया जाए तो भी यह ध्यान में रखना होगा कि कला को कला का आकार देते हुए अस्तित्ववाचक सामग्री की आवश्यकता होती है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है। विभावानुभावव्यभिचारि सम्बन्ध से उत्पन्न रस को अस्तित्ववाचक न मानकर सौन्दर्यवाचक क्यों न माना जाए ? इसके दो उत्तर हैं। रस संज्ञा तो अवश्य है, परन्तु यह उस प्रकार की संज्ञा नहीं है जैसी कि सुन्दर से सौन्दर्य संज्ञा बनती है। इस कारण गुणवाचक-भाववाचक संज्ञा कहने की अपेक्षा अस्तित्व-वाचक संज्ञा के रूप में इसका प्रयोग करना उपयुक्त होगा। दूसरे, 'सौन्दर्य' शब्द को स्वीकार करने पर भी या तो वस्तु मानकर उसका प्रयोग करना पड़ेगा, अर्थात् अस्तित्ववाचक संज्ञा के समान उसका प्रयोग करना पड़ेगा अथवा उसे संज्ञा कहना ही निरर्थक होगा। इसका भी सुन्दर विशेषण के समान ही प्रयोग करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त रस शब्द का किसी भी रूप में प्रयोग किया जा सकता है। शब्द-प्रयोग तो आवश्यक ही है और मेरे विचार में सांख्यशास्त्र का रस शब्द उसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त होगा। मेरी धारणा में ज्ञाता के न होने पर भी वस्तु का अस्तित्व होता ही है परन्तु ज्ञाता के बिना या सहृदय के बिना उसके सम्बन्ध में सौन्दर्यवाचक विधान नहीं किया जा सकता। सांख्य-शास्त्र में 'रस' शब्द तन्मात्रवाचक है। तन्मात्र का अर्थ है 'केवल वस्तु' ही। जब यह तन्मात्र ज्ञात होता है तब वह महाभूतात्मक होता है। सौन्दर्यवाचक विधान महाभूतात्मक विधान के समान अर्थात् सहृदयावलम्बी होता है। किन्तु रसवाचक विधान पूर्ण अस्तितववाचक है। इस कारण कला-घटक के साकल्य के लिए पहले 'रस' शब्द का प्रयोग हुआ होगा। किन्तु 'रस' शब्द का प्रयोग करें अथवा न करें, काव्य के समान कला में भी अस्तितववाचक आशय होता है और कला चाहे किसी के भी मन में उत्पन्न हो वह वस्तुगत होती है और अस्तितववाचक अवयव-अवयवी-सम्बन्ध में ही उसकी व्यवस्था करनी पड़ती है। काव्य का हेतु आनन्द

अथवा तदितर कुछ भी हो तो भी काव्य-शरीर को[1] अस्तित्ववाचक आशय की आवश्यकता होती है। इस तथ्य की प्रतीति समीक्षकों को अधिकाधिक होने लगी। परिणामतः पारंपरिक रससिद्धान्त की अपूर्णता का आभास उन्हें होने लगा। इसी कारण 'भावगंध' जैसे सिद्धान्तों का निर्माण हुआ।[2] किन्तु इस अपूर्णता का ज्ञान होने पर भी मूल रससिद्धान्त कला के घटक से सम्बन्धित, अर्थात् अस्तित्ववाचक सिद्धान्त है इस ओर विद्वानों का ध्यान नहीं गया। रससिद्धान्त आनन्द सिद्धान्त के रूप में रूढ़ रहा है, अतः काव्यमीमांसा की पूर्ति के लिए हमें दूसरे सिद्धान्तों का सहारा लेना पड़ा।

रसवत् अलंकार

मूल रससिद्धान्त काव्य के घटक से सम्बन्धित सिद्धान्त है। इसकी सिद्धि के लिए एक और प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है। अलंकारशास्त्र में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि अलंकारों के समान ही रसवत् नाम का भी एक अलंकार है। भामह और रुद्रट ने यह अलंकार माना है तो मम्मट ने इस अलंकार का उल्लेख भी नहीं किया है। इसके विपरीत कुछ काव्यमीमांसाकार इस विषय में अस्पष्ट मत रखते हैं। कतिपय अन्य विद्वानों का सुझाव है कि काव्य के मूल रस में अन्य रस का संकर अथवा 'विप्रलंभन' होने पर भी इस विप्रलंभन को अथवा संकर-रस को रसवत् (अर्थात् रस के समान दीखने वाला) अलंकार माना जाए। किन्तु प्रश्न उठता है कि रसवत् अलंकार के विषय में ऐसी उलझनें क्यों उत्पन्न हुईं? मेरे विचार में इस प्रश्न के उत्तर में ही रससिद्धान्त का मूल स्वरूप दिखाई देने की सम्भावना है। जिस भामह ने यह अलंकार सुझाया है उसने रससंकर अथवा इसके समान कोई भी प्रयोग इस अलंकार के सम्बन्ध में नहीं किया है। उनका सीधा-सा कथन है—जिस शब्दसमुच्चय में (अथवा अर्थसमुच्चय में) रस होता है, अर्थात् जिस शब्दसमुच्चय में विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारिभाव में से किन्हीं का अथवा सभी घटकों का संयोग होकर एक 'पद्मबंध' बना होता है और वह किसी

---

१. पृष्ठ ५३ की पाद टिप्पणी देखिए।

२. दे० 'भावगन्ध', ले० डा० मा० गो० देशमुख।

भावना को व्यक्त करता है तब उस पद्मबंध को रसवत् के रूप में सम्बोधित करना चाहिए। सभी शब्द समुच्चयों में रस नहीं होता, और सभी अर्थालंकारों में अथवा शब्दालंकारों में भावना को आवाहन नहीं मिलता। परिणामतः, 'चमत्कृतिश्चालंकारः' इस नियम के अनुसार शब्द और अर्थ की एक विशिष्ट रचना को रसवत् नाम का अलंकार मानना आवश्यक है। किन्तु आगे जब रस काव्य की आत्मा माना जाने लगा तब रसवत् अलंकार का प्रयोजन भी समाप्तप्राय हो गया। उस समय कलामीमांसकों ने एक रस में उत्पन्न दूसरे रसदर्शन को अर्थात् संकर को 'रसवत्' के रूप में सम्बोधित किया होगा। रसवत् का स्थूल अर्थ है 'जिसमें रस है'। परन्तु इसके स्थान पर 'रस के समान' यह अर्थ किया गया। मम्मट के समय में रस = आनन्द यह समीकरण पूर्ण हो जाने के कारण, रसवत् अलंकार मानने का प्रयोजन ही न रहा और मूल रसवत् अलंकार का अलंकार-प्रकरण से निष्कासन हो गया।[1]

अस्तित्ववाचक घटक और कला

यह हम देख चुके हैं कि कला का कलात्व निर्धारित करते समय कला के घटकों का विश्लेषण करना, अर्थात् सौन्दर्यवाचक विधान के उद्देश्य के सम्बन्ध में अस्तित्ववाचक विधान करना आवश्यक है। काव्य, नाट्य, चित्र, नृत्य इत्यादि कलाओं में भी यह अस्तित्ववाचक घटक अनिवार्य होता है। भरतमुनि जब विभाव, अनुभाव, संचारिभाव, अथवा वाक्, अंग, सत्व इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब उन्हें यही घटक अभिप्रेत होता है और इन्हीं घटकों को और उनके सम्बन्धों को अर्थात् अस्तित्ववाचक सम्बन्ध को (जो सम्बन्ध स्व० मर्ढेकर के साम्य, विरोध, समतोल इत्यादि सम्बन्धों के समान ही एक सम्बन्ध है) वे 'रस' संज्ञा देते हैं। अस्तित्ववाचक रस का आनन्द में रूपान्तर कैसे हुआ इसकी एक बड़ी लम्बी कहानी है। किन्तु यह स्पष्ट है कि काव्य को और सामान्यतया सभी कलाओं को अस्तित्ववाचक घटकों की तथा सम्बन्धों की आवश्यकता होती है। जब तक इन घटकों का हम विश्लेषण नहीं करेंगे तब तक कला के उस यथार्थ रूप की कल्पना हम नहीं कर पायेंगे।

---

१. रसवत् के समान वक्रोक्ति अलंकार की भी यही स्थिति हो गई है।

५ | रस का स्वरूप

'नवभारत' के नवम्बर और दिसम्बर १९५० के अंक में श्री दि० के० बेडेकर ने रस-सिद्धान्त के स्वरूप के विषय में दो लेख लिखकर साहित्यशास्त्र को मौलिक योगदान दिया है। मराठी साहित्यशास्त्र के आरम्भ से लेकर आज तक किसी ने रस पर इतनी शास्त्रीय और मौलिक पद्धति से विचार किया है या नहीं, इसकी तो मुझे जानकारी नहीं है। इस दृष्टि से श्री बेडेकर का लेख युग-प्रवर्तक है, इसमें मुझे सन्देह नहीं। इस शताब्दी के आरम्भ में ब्रेडले आदि विज्ञानवादियों की इंग्लैंड में (व अन्यत्र भी) ख्याति थी फिर भी प्रो० जी० ई० मूर नामक दार्शनिक ने 'Refutation of Idealism' तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक लेख लिखकर दार्शनिक चिन्तन-पद्धति को जिस प्रकार की गति प्रदान की और उसमें युग-प्रवर्तन उपस्थित किया, उसी प्रकार का काम श्री बेडेकर ने प्रस्तुत लेख लिखकर किया है। अनेकार्थक शब्दों से उत्पन्न संदिग्धता को दूर करके शब्दों का सही-सही प्रयोग करना एक बहुत बड़ा गुण होता है। दर्शन-क्षेत्र में आज तक की बहुत-सी गलतियाँ इसी संदिग्धता के कारण ही उत्पन्न हुई हैं। ऐसी स्थिति में मराठी भाषा में पारिभाषिक शब्दों का इतना शुद्ध प्रयोग करके लेख लिखने का जो परिश्रम श्री बेडेकर ने किया है उसके लिए मैं उनका हृदय से अभिनन्दन करता हूँ।

अपने लेख के प्रारम्भ में ही श्री बेडेकर ने एक उचित संकेत किया है। ज्ञान-विज्ञानशास्त्र, मनोविज्ञान-शास्त्र और सौन्दर्य-विज्ञानशास्त्र एक-दूसरे से परस्पर भिन्न हैं, अतः सौन्दर्य-विज्ञानशास्त्र से सम्बद्ध विषय जो 'रस' है उस पर विचार करते समय हमें श्री बेडेकर के संकेतानुसार सौन्दर्य-विज्ञानशास्त्र का आश्रय लेकर ही चलना चाहिए। यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान-शास्त्र पर आवश्यकता से अधिक बल देने से काव्य का

वास्तविक स्वरूप समझ में नहीं आ सकता। परन्तु यह गलती भारतीय और कतिपय पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रज्ञों ने भी की है। ज्ञान-विज्ञान लें अथवा सौन्दर्य-विज्ञान लें, उसमें जहाँ तक विज्ञान का सम्बन्ध है वहीं तक मनोविज्ञान-शास्त्र का आश्रय लेकर विचार करना पड़ेगा। परन्तु जहाँ मन का वास्तव में कोई सम्बन्ध ही नहीं है वहाँ भी मनोविज्ञान का सिद्धान्त द्राविड़ी प्राणायाम करके लाना कभी भी उपयुक्त नहीं होगा।

प्रस्तुत लेख में श्री बेडेकर के मुख्य सिद्धान्त पर विचार करना मेरा उद्देश्य नहीं है। ऐतिहासिक पार्श्वभूमि पर उन्होंने रससिद्धान्त का जो विश्लेषण किया है, वह सही है। इस लेख में मैं तो केवल श्री बेडेकर की अन्तिम स्थापना पर विचार करके तत्सम्बद्ध अपना मत रस-स्वरूप के आधार पर प्रकट करना चाहता हूँ। मुझे जो प्रश्न पूछना है वह यह है कि क्या भरतमुनि ने जिस रस-व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न किया था वह अब इतिहास-संग्रहालय में रखने की वस्तु है ? जैसा कि श्री बेडेकर मानते हैं। यदि संस्कार-परिष्कार की वृत्ति को बलात्कार की वृत्ति और घातक वृत्ति मानकर चलें और शब्दों के प्रयोग का त्याग कर दें तो भिन्न-भिन्न काल-खण्डों में निर्मित काव्य के परीक्षण के लिए हमें भिन्न-भिन्न प्रतिमानों का प्रयोग करना होगा और ज्योंही वह कालखण्ड समाप्त हुआ त्योंही वह काव्यशास्त्र भी ऐतिहासिक बन जाएगा और उसे ऐतिहासिक संग्रहालय में स्थान देना होगा। सभी प्रकार के संस्कार-परिष्कार घातक होते हैं, ऐसा मुझे नहीं लगता। यदि किसी वस्तु या कल्पना पर घातक संस्कार हुआ हो और मूल वस्तु पृथक् दिखाई देने लगे तो संस्कार के उस घातक आवरण को हटाकर शुद्ध वस्तु के स्वरूप को देखने में क्या दोष है ? पर सच है कि 'रस' शब्द से जो आशय व्यक्त होता है, उस पर आज तक अनेक संस्कार हुए हैं। परन्तु भरतमुनि ने अपने देवासुर द्वन्द्वात्मक नाट्य के लिए जिस अर्थ में 'रस' शब्द का उपयोग किया है, आज भी यदि उसी अर्थ में काव्य के लिए आवश्यक है तो आधुनिक काव्यशास्त्र में रस शब्द के प्रयोग में क्या दोष होगा ? ऐसी स्थिति में मैं इस लेख में भरत-प्रतिपादित रस-स्वरूप का तथा उसी अर्थ में काव्य के लिए उसकी सतत उपयोगिता का परीक्षण करना चाहता हूँ।

परन्तु इस विषय में एक विशेष बात ध्यान देने की है। भरत के उपरान्त अपनी विशिष्ट दार्शनिक मान्यता के आधार पर रस का अर्थ निश्चित किया जाने लगा और भट्टनायक, अभिनवगुप्त अथवा उनके नितान्त अनुयायी मम्मट तथा विश्वनाथ ने रस को आस्वाद स्वरूप अथवा आनन्दस्वरूप ही मान लिया। इसी संस्कृत काव्यशास्त्र का अनुसरण करते हुए मराठी में रस का तात्पर्य आनन्द, रस का तात्पर्य आस्वाद, इस प्रकार की विचारसरणी प्रसूत हुई। साहित्यशास्त्र के समर्थ व्याख्याता प्रा० वाटवे, प्रा० जोग, प्रा० केळकर इत्यादि ने इसी मान्यता का समर्थन किया है, अतः उपर्युक्त विचारसरणी विद्वन्मान्य हो गई। उदाहरणार्थ, 'काव्यालोचन' की निम्न पंक्तियाँ देखिए—'कवि प्रकृति के अन्तरंग में भली प्रकार पैठ सकता है, इसकी पुष्टि कविगत प्रतिभा और प्रकृतिगत सौन्दर्य को आत्मस्वरूपी मान लेने से हो सकी है।'[1] हमने यह जान लिया है कि काव्य से सहृदय का हृदय-समुद्र उछलने लगता है। इस स्थिति में सहृदय अत्यन्त तन्मय हो जाता है। सहृदय की इस तदाकार वृत्ति को ही संस्कृत आचार्यों ने रस कहा है। 'रस का आस्वाद' इस प्रकार का कथन स्थूल रूप से ही किया जाता है। वस्तुतः आस्वाद ही रस है। 'इस आस्वाद की जो काव्यगत सामग्री है उसे भी लाक्षणिक अर्थ में ही रस कहा जाता है। काव्य में रस होता है, यह कथन भी लाक्षणिक ही है।'[2]

इस विचारसरणी को प्रथम शास्त्रीय सुरंग लगाने वाले थे श्री बेडेकर और इसी कारण रस-स्वरूप की चर्चा करना अब सम्भव हो सका है। मुझे ऐसा लगता है कि उपर्युक्त परिच्छेद में निरूपित रस का स्वरूप भरतमुनि को मान्य नहीं था। मेरे विचार में आज भी रस का अर्थ आस्वाद अथवा आनन्द करना उचित नहीं है।

रस ज्ञातृ-निरपेक्ष वस्तु है

किसी भी प्रकार के ज्ञान में तीन वस्तुएँ आवश्यक होती हैं—ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान। यद्यपि ज्ञान ज्ञेय का ही होता है तो भी वह ज्ञाता के

---

१. श्री द० के० केळकर : काव्यालोचन, पृष्ठ ५२, ५३।

२. काव्यालोचन, पृ० १२३।

माध्यम से ही होता है, अतः प्रत्येक ज्ञान में कतिपय ज्ञातृ-संवेदनाएँ (Sensations) उपस्थित रहती हैं। फलतः ज्ञेय और ज्ञान को एक ही नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक ज्ञान में ज्ञातभाव और वस्तुभाव दोनों ही संकलित रहते हैं। वस्तुभाव के बिना ज्ञान होना सम्भव नहीं है। इन वस्तुभावों की ही सांख्य में 'तन्मात्र' संज्ञा है। 'तत्' का अर्थ है वस्तु और 'तन्मात्र' का अर्थ है जो वस्तु में निहित है (तदेव इति तन्मात्रम्) अर्थात् सांख्य के ज्ञानशास्त्र में तन्मात्र और पंचमहाभूत ये जो संज्ञाएं आई हैं उनका स्पष्टीकरण इसी रूप में होता है। तन्मात्र का अर्थ हुआ ज्ञातृ-निरपेक्ष वस्तुमात्र और इसी कारण सांख्य की परिभाषा में उसे पंचमहाभूतों का सूक्ष्म स्वरूप इस प्रकार की संज्ञा दी गई है। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि सूक्ष्म स्वरूप का तात्पर्य बड़ी वस्तु का छोटा 'माडल' (आकार) नहीं है। जब यह सूक्ष्म स्वरूप ज्ञाता के ज्ञान-कक्ष में आता है तब उसका पंचमहाभूतात्मक रूप हमें दृष्टिगोचर होता है। प्रस्तुत तन्मात्र की और पंचमहाभूतों की विषयपद्धति सांख्य-शास्त्र की है, इसे भली प्रकार समझना आवश्यक है। सांख्य वास्तव में ज्ञान-शास्त्र है, इसलिए एक ओर बुद्धि, अहंकार, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन हैं तो दूसरी ओर तन्मात्र को सांख्य ने मान्यता दी है। जिस प्रकार से रस शब्द आयुर्वेद में और नाट्यशास्त्र में आया है उसी प्रकार से वह सांख्य-शास्त्र में भी आया है। यही नहीं इसे तो सांख्य से ही आयुर्वेद ने और नाट्यशास्त्र ने ग्रहण किया है। सांख्य का और आयुर्वेद का सम्बन्ध तो प्रसिद्ध ही है। अतः सांख्य-शास्त्र में रस का जो अर्थ निर्दिष्ट है, वही मूल अर्थ है। सांख्य में रस का तात्पर्य है ज्ञातृ-निरपेक्ष वस्तुमात्र। इसमें किंचित् भी शंका नहीं है। विज्ञानवाद और वेदान्त का अपने दर्शन-क्षेत्र में प्रवेश होने से पूर्व यहाँ के शास्त्रों का अधिष्ठान सामान्यतः भौतिक था। और आयुर्वेद तथा नाट्यशास्त्र तो निश्चित ही भौतिक थे। इन दोनों शास्त्रों ने तो आरम्भ में सांख्य का तत्त्वज्ञान ही ग्रहण किया था। आयुर्वेद में रस का तात्पर्य है वनस्पतिगत वस्तुमात्र। नाट्यशास्त्रों में रस का तात्पर्य है नाट्य में उपलब्ध वस्तुमात्र। अतः रस का तात्पर्य हुआ आस्वाद्य, अर्थात् आस्वाद जिसका भाव या गुण है ऐसी वस्तु, अथवा आस्वाद का अधिष्ठान।

वस्तु का अस्तित्व ज्ञातृ-निरपेक्ष होता है अथवा ज्ञातृ-सापेक्ष, यह दर्शनशास्त्र का प्रमुख विवादास्पद प्रश्न है। हमारी सामान्यतः धारणा यह है कि वस्तु का अस्तित्व ज्ञातृ-निरपेक्ष होता है। मैं जब यह लेख लिख रहा हूँ तो मेरे सामने रेडियो रखा हुआ है। परन्तु जब मैं रेडियो की ओर देखता हूँ तभी यह उत्पन्न होता है अन्यथा उसका अस्तित्व ही नहीं है, यह कहना सामान्य बुद्धि की समझ से बाहर की चीज है। यह सत्य है कि जब मैं रेडियो की ओर देखता हूँ अथवा उसे सुनता हूँ तभी मुझे रेडियो का ज्ञान होता है। परन्तु केवल इसी कारण से रेडियो का अस्तित्व भी मेरे ज्ञान पर ही अवलम्बित नहीं रहेगा। "Esse is Percipii" अस्तित्व प्रत्यक्ष में ही है अथवा इस दृष्टि से परे सृष्टि नहीं है और दृष्टि ही सृष्टि उत्पन्न करती है, इस प्रकार की मान्यता रखने वाले बर्कले आदि दार्शनिकों को भी इस मत को यथावत् रूप में मान लेना कठिन प्रतीत हुआ था। फलतः उन्हें ईश्वर का आश्रय लेकर यह समाधान कर लेना पड़ा कि जब मैं नहीं देख रहा हूँ, उस समय ईश्वर तो उस वस्तु को देख रहा है।

वस्तुता का स्थान मानसिकता ने ग्रहण कर लिया!

ऐसी स्थिति में भी संसार के अनेक दार्शनिकों की यह धारणा बनी हुई है कि वस्तु का अस्तित्व (ज्ञान नहीं) किसी न किसी प्रकार से ज्ञाता पर अधिष्ठित होता है और वह दिखाई देने वाली वस्तु भी अन्ततः किसी न किसी प्रकार से ज्ञाता के अधीन होती है, इस मत के मानने वाले कांट अथवा वह वस्तु सर्वथा अपनी कल्पना की क्रीडा है, इस मत के अनुयायी विज्ञानवादी, योगाचार और माध्यमिकों तक सभी प्रकार के न्यूनाधिक विज्ञानवादी पौरस्त्य और पाश्चात्य दर्शन क्षेत्र में अपना-अपना स्थान मंडित किए हुए हैं। आदि शंकराचार्य का विवर्त-वाद अथवा जिसके कारण संस्कृत साहित्यशास्त्र को नई दिशा प्राप्त हुई वह अभिनवगुप्त का प्रत्यभिज्ञावाद भी विज्ञानवाद का ही एक विशिष्ट प्रकार है। रस विषयक विवेचन करते समय बुद्ध और शंकराचार्य का अभिनवगुप्त पर प्रभाव पड़ा और इसी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर उन्होंने

रससिद्धान्त की फिर से स्थापना की।[1] प्रस्तुत ऐतिहासिक तथ्य को सामने रखना आवश्यक है। इस स्थापना में ही 'रस' शब्द का मूल अर्थ और भरतमुनि को अभिप्रेत रस-सिद्धांत का वास्तविक अर्थ भी पूर्णतया बदल गया।

विशिष्ट दार्शनिक मत की स्वीकृति के कारण भी शब्दों के अर्थों में परिवर्तन होता है और मूल अर्थ विस्मृत होकर नवीन अर्थ रूढ़ हो जाता है। श्री बेडेकर-निर्दिष्ट 'कल्पना' शब्द का उदाहरण इसी प्रकार का है। जैसे-जैसे विज्ञानवाद का पलड़ा भारी होने लगा और कोई भी वस्तु मन के संयोग के बिना, सान्निघ्य के बिना, यहाँ तक कि मन के बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकती यह मत रूढ़ होता गया, वैसे-वैसे 'कल्पना' शब्द का अर्थ-संकोच हुआ और रचना अथवा निर्मिति इस व्यापक अर्थ में व्यवहृत यह शब्द केवल 'मन से निर्मित वस्तु' इस संकुचित अर्थ में प्रचलित हुआ। जो स्थिति 'कल्पना' शब्द की हुई वही स्थिति 'रस' शब्द की भी हुई है। पानी अथवा द्रव अर्थ में प्रचलित रस शब्द आयुर्वेद, सांख्य और साहित्यशास्त्र के संयोग से अपने अर्थ का रंग बदलने लगा और साहित्यशास्त्र पर भी जब विज्ञानवादी दार्शनिक मत का पुट चढ़ गया तब तो रसगत वस्तुता भी समाप्त हो गई और उसे केवल गुण का स्थान प्राप्त हो गया। अर्थात् इस सभी प्रकार के संक्रमण में केवल रस का शब्दार्थ बदल गया हो, यही नहीं

---

१. तदैक्येन विना नास्तिसंविदां लोकपद्धतिः। प्रकाश्यैक्यात् तदेकत्वं मातैकः स इति स्थितिः। (सर्वदर्शन संग्रह :—'प्रत्यभिज्ञा दर्शनं' पृ० १९५ भांडारकर प्राच्य विद्यालय, संस्करण, पृ० ७६-७७) यह मत अभिनवगुप्त का कहा जाता है। फलतः प्रत्यभिज्ञा दर्शनकार अभिनवगुप्त और रस ध्वनिकार अभिनवगुप्त एक ही हैं अथवा भिन्न-भिन्न, इस विषय में कतिपय विद्वानों को संशय होना संभव है। परन्तु भले ही ये दोनों भिन्न-भिन्न हों तो भी मेरी स्थापना में तिलमात्र भी बाधा उपस्थित नहीं होगी। क्योंकि अभिनवगुप्त ने अपनी नाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनवभारती' में यह स्पष्ट लिखा है कि 'इस विषय में हम विज्ञानवादी बौद्धों के विज्ञानवाद का ही अवलम्ब लेते हैं' (विज्ञानवादावलम्बनात्)

(पृ० २८१, G. O. S. No XXXVI, Natya Shastr, Vol. 1)

हुआ, वरन् 'रस' शब्दगत जो वस्तुता का आशय था वह भी बदल गया और उसे मानसिकत्व प्राप्त हो गया। जहाँ सारा विश्व ही कल्पनामय हुआ, मन से निर्मित हुआ, वहाँ रस को भी यदि मानसिकत्व प्राप्त हो गया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? तात्पर्य, अद्वैतगत ब्रह्म के समान ही रस को भी आनन्द स्वरूप प्राप्त हो गया। इससे काव्य का आस्वाद लेने के उपरान्त उत्पन्न आनन्द तथा रस इन दोनों में असंगति उत्पन्न होने लगी। परिणामतः रस, आस्वाद और आनन्द तीनों एक रूप ही बन बैठे।

यह कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि काव्य आनन्दकारक होना चाहिए। परन्तु यह कोई काव्य का ही वैशिष्ट्य नहीं है। प्रत्येक सौन्दर्य-विशेष के कारण आनन्द का उत्पन्न होना नितान्त आवश्यक ही है। आनन्द तो प्रत्येक सौन्दर्य-विशेष का धर्म ही है। परन्तु क्या रस का अर्थ आनन्द है? रस यदि काव्य की आत्मा है तो रस का अर्थ आनन्द कैसे होगा? यह सत्य है कि काव्य के कारण आनन्द उत्पन्न होगा, परन्तु काव्य अथवा काव्य के आन्तरिक तत्त्व को आनन्द नहीं कहा जा सकेगा। उदाहरणार्थ गन्ने का रस लें। गन्ने का रस गन्ने का वस्तुभाग (Constituent) है, परन्तु गन्ने के रस में स्थित मिठास पूर्णतः वस्तु में अधिष्ठित नहीं है, वरन् वस्तु अर्थात् प्रमेय और उसका प्रमाता इन दोनों के संयोग पर अधिष्ठित है। इसके विपरीत गन्ने का रस पीने से जो आनन्द उत्पन्न होता है वह वस्तु में बिल्कुल भी नहीं रहता। वह तो सब प्रकार से भोक्ता के मन में रहता है। यदि हम आनन्द को ही रस मान बैठें तो रस का काव्य से सम्बन्ध टूट जायेगा और यह सब प्रकार से मानसिक बना रहेगा। अर्थात् वह सर्वथा सहृदय या सामाजिक की इच्छा पर अवलम्बित रहेगा। इसके विपरीत यदि रस को आस्वाद का अधिष्ठान या आस्वाद्य माना जाय तो 'रस' शब्द की खींचतान भी नहीं करनी होगी। मेरा विश्वास है कि भरत का 'रस' से तात्पर्य आस्वाद्य से ही था।

रस के स्वरूप का निर्णय करते समय (१) रस कैसे उत्पन्न होता है? और (२) सहृदयों द्वारा उसके आस्वादन की क्या प्रक्रिया है? इन दोनों प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक होगा। प्रथम प्रश्न का उत्तर

देते हुए भरतमुनि ने कहा है 'तत्र विभावानुभावव्यभिचारि संयोगात् रसनिष्पत्तिः।' 'तत्र' का तात्पर्य है जिस स्थान पर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का संयोग होता है अर्थात् रंगमंच पर। भरत-निरूपित किसी भी सिद्धांत पर विचार करते समय तत्कालीन देशकाल परिस्थितियों के प्रति दुर्लक्ष करना उचित नहीं है। श्री बेडेकर की भी यही मान्यता है, जो नितांत उपर्युक्त है। उपयुक्त सूत्र लिखते समय भरतमुनि के सामने नाट्य-सृष्टि अर्थात् रंगमंच था जिस पर अभिनय आदि की क्रियाएँ होती हैं और जिस स्थान पर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का संयोग हो सकता है। इस तथ्य पर दुर्लक्ष करने से उपर्युक्त सूत्र का स्पष्टीकरण व्यवस्थित नहीं हो सकेगा।

'तत्र' शब्द के समान ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव द्वारा सूचित आशय का स्वरूप भी समझ लेना आवश्यक है। इसके बिना भरतमुनि के उपर्युक्त सूत्र का सही अर्थ हमें पता नहीं लग सकेगा।

श्री बेडेकर ने भावों का जो विवेचन किया है, वह बहुत मार्मिक है। विशेषतः लोकधर्मी और नाट्यधर्मी भेद जो उन्होंने निरूपित किया है वह तो बहुत ही मौलिक है। इसी प्रकार उनका यह कथन कि भाव मानसिक नहीं हैं, पर्याप्त सही लगता है। पर्याप्त कहने का कारण यह है कि लोकधर्मी स्थायीभावों के अतिरिक्त जो शेष भाव हैं वे मानसिक नहीं लगते। यदि भावों को केवल प्रमेयरूप पदार्थों के रूप में सम्बोधित करने की अपेक्षा प्रमेय चिह्नों के रूप में सम्बोधित किया गया होता तो ठीक था। ऐसी स्थिति में रस प्रमेय है और जिसके संयोग से रस उत्पन्न होता है वे भाव (प्रमेयचिह्न) होते हैं इस प्रकार की परिभाषा अधिक समीचीन होती। भरतमुनि ने जिन्हें आठ सात्त्विक भाव कहा है उन्हें अँग्रेजी भाषा में कहें तो शरीर संवेदनाएँ (Organic Sensations) ही कहा जा सकता है और कुछ नहीं। और ये 'प्रमाता-अनुगामी' (Objective) न होकर 'वस्तु-अनुगामी' (Subjective) हैं। विभाव और व्यभिचारी भाव भी वस्तु-अनुगामी ही हैं।

मुझे लगता है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के समान ही लोकधर्मी स्थायीभाव भी मानसिक नहीं हैं। इन स्थायी भावों को 'चित्तवृत्ति विशेष' के रूप में सम्बोधित किया गया है, इतना

ही प्रमाण मिलता है। इस प्रकार के स्थायीभावों का वर्गीकरण पूर्ण-रूप से आधुनिक मानसशास्त्र से मिलता है अथवा नहीं यह प्रश्न नितांत भिन्न है। इस प्रकार का परीक्षण आवश्यक भी नहीं है। इन स्थायी भावों को 'मानवी मन के मूलभूत विकार' बनने की तिलमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

दो प्रक्रियाएँ

रस के स्वरूप का निर्णय करते समय और उपर्युक्त सूत्र का अर्थ लगाते समय स्थायीभाव और इतर भावों का रस से जो सम्बन्ध है, उसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। परन्तु इससे पूर्व यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि काव्य-निर्मिति से लेकर काव्य के रस-ग्रहण तक दो प्रक्रियाएँ होती हैं। एक प्रक्रिया कवि से आरम्भ होती है और नाट्य अथवा काव्य की उत्पत्ति तक रहती है तो दूसरी प्रक्रिया नाट्य अथवा काव्य से आरम्भ होती है और सहृदय अथवा सामाजिक के मन तक जाती है। प्रथम प्रक्रिया की समाप्ति रस-निष्पत्ति में होती है तो दूसरी प्रक्रिया की समाप्ति रसास्वाद अथवा आनन्द में होती है। मेरे विचार में पाश्चात्य साहित्यशास्त्रगत मीमांसा में प्रथम प्रक्रिया का वर्णन हुआ है तो भरत-परवर्ती भट्टनायक-अभिनवगुप्त आदि ने दूसरी प्रक्रिया का वर्णन किया है। इन दोनों प्रक्रियाओं में अव्यवस्था उत्पन्न कर देने के कारण ही भरतमुनि का सिद्धान्त स्पष्ट रूप में प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार चश्मे के शीशे (Lense) में किसी भी वस्तु का प्रतिबिम्ब उलटा पड़ता है उसी प्रकार दूसरी प्रक्रिया प्रथम प्रक्रिया का उलटा प्रतिबिम्ब है।

प्रथम प्रक्रिया में कवि का सम्बन्ध आन्तरिक अथवा बाह्य पदार्थों से आता है। इससे उसे वस्तुज्ञान होता है, इसके द्वारा कवि के हृदय में भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। परन्तु हृदय में भावनाओं के उमड़ आने मात्र से काव्य का निर्माण नहीं होता। अस्तमान सूर्य का प्रकाश हमें बहुत मनोहारी प्रतीत होता है। परन्तु इस सूर्य-प्रकाश को देखकर हमारे हृदय में कतिपय भावों की जागृतिमात्र से कविता की निर्मिति नहीं होती। इसी प्रकार रक्त-कर्दम को देखकर मन में दुःख की उत्पत्ति-

मात्र से काव्य-निर्मिति नहीं होती। वरन् काव्य-निर्माण के लिए मनोगत भावों का वस्तुगत होना नितान्त अनिवार्य है। यदि मेरे मन में आये हुए भाव केवल मुझे ही आस्वाद्यमान होते हैं तो इन भावों की आस्वाद्यमानता मुझ तक ही सीमित होती है। इनका दूसरों के लिए कोई भी उपयोग नहीं हो सकेगा। काव्य के लिए यह आवश्यक है कि ये भाव सर्वसामान्य जनता अथवा सभ्य-सामाजिकों के लिए आस्वाद्यमान हों। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हृदयस्थ भावनाओं का जब वस्तुकरण होता है तभी काव्य-निर्माण होता है। मनोभावनाएँ व्यक्ति पर अवलम्बित होती हैं, व्यक्ति के मन में ही वे प्रकट होती हैं और व्यक्ति के मन में ही उनका पर्यवसान भी हो सकता है। परन्तु काव्य की स्थिति ऐसी नहीं होती। काव्य के लिए कवि का जनकत्व आवश्यक है। परन्तु जिस प्रकार से माता-पिता की संतति आचार-विचार अथवा मनोवस्था में स्वतन्त्र होती है, उसी प्रकार एक बार निर्मित काव्य स्वतन्त्र रूप में जीवित रहता है। कविवर संत तुकाराम की कविता उन्हीं के साथ स्वर्ग नहीं चली गई। यदि हृदयस्थ भावना का ही तात्पर्य काव्य लिया जाता तो आज तुकाराम की कविता जीवित नहीं रहती। ब्रह्मा के समान कवि भी निर्माता होता है और वह अपनी हृदयस्थ भावनाओं को साकार करता रहता है। इन साकार भावनाओं का ब्रह्मा की सृष्टि के समान ही स्वतन्त्र अस्तित्व (Existence) होता है। जिस प्रकार हम समझते हैं कि आत्मा शरीर के घेरे में रहती है, उसी प्रकार काव्य शब्द के (अथवा नाट्य 'वागंगसत्व' के अथवा भाव और अभिनय के) घेरे में रहता है। शब्दों के अथवा भावों के घेरे में रहने वाले काव्य-नाट्य को ही भरतमुनि ने रस कहा है। भाषा को यदि रूपकात्मक माना जाय तो कहा जा सकता है कि कवि-हृदयस्थ भावनाओं का अर्थ निकालकर जो एक पदार्थ उत्पन्न होता है वही रस है। यह रस तन्मात्र विषयक होता है और उसके निर्माण के लिए 'वस्तु-अनुगामी' नाट्य-भावों की ही आवश्यकता होती है। रस प्रमेय रूप है और भाव प्रमेय-चिह्न रूप हैं। यदि भाव वस्तु-अनुगामी न होकर ज्ञातृ-अनुगामी हुए होते तो अपने भाव साकार न होते और रस-

निष्पत्ति भी सम्भव नहीं होती ।[1]

किसी भी प्रकार के ज्ञान के लिए एक 'त्रिपुटी' की आवश्यकता होती है । इसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु कवि में अथवा कलाकार में ज्ञाता की अपेक्षा एक और विशेष बात होती है। इस मत के स्पष्टीकरण के लिए एक उदाहरण लें । एक व्यक्ति चंद्रमा को देखता है और अपना ज्ञान वह 'चन्द्र' शब्द से व्यक्त करता है। अर्थात् 'यह चन्द्र है' यह सामान्य ज्ञान-प्रक्रिया हुई । परन्तु 'यह चन्द्र सुन्दर है', 'इस चन्द्रमा को देखकर स्त्री के मुख का आभास होता है', 'यह तो स्त्री का ही मुख है' अथवा 'अरे, चकोर तू क्यों इतना आनन्दित हो रहा है ? यह चन्द्रमा थोड़े ही है ?' इत्यादि विचार जब कवि प्रकट करता है तब (१) चन्द्र का ज्ञान=अपने मन के भाव अथवा (२) केवल निजी मनोगत भावों को कवि व्यक्त करता है ।

अर्थात्, कवि-मनोगत प्रस्तुत भाव जब काव्य या नाट्य में व्यक्त होते हैं तब वे मनोभाव नहीं रहते वरन् वे एक आस्वाद्य वस्तु बन जाते हैं, जिसका आस्वाद सर्वसाधारण हृदयों द्वारा लिया जा सकता है और इसे ही भरतमुनि ने रस कहा है। प्रस्तुत रस अथवा कवि-मनोगत भावों की अभिव्यक्ति के कौन-कौन से साधन हैं ? इन भावों को कैसे साकारता

१. पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में कविता के दो प्रकारों का निरूपण हुआ है । एक वस्तुनिष्ठ कविता और दूसरी आत्मनिष्ठ कविता । वर्णनात्मक कविता प्रथम वर्ग में आती है तो मनोगत भावों की अभिव्यक्ति से सम्बद्ध कविता दूसरे वर्ग में । काव्य का प्रस्तुत वर्गीकरण समीचीन है । परन्तु इससे मेरे सिद्धान्त में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती । यह मानसशास्त्रीय सत्य है कि जब कवि निजी भावनाओं को साकार करता है तब वह उन्हें वस्तु (Object) के रूप में ही सम्बोधित करता है। कविता गेय (Lyric) हो अथवा वर्णनात्मक हो, उसमें वस्तुत्व की स्थिति अनिवार्य है । कविता को वस्तुनिष्ठ (Objective) अथवा आत्मनिष्ठ (Subjective) कहने से संदिग्धता के निर्माण की सम्भावना रहती है । उसके निवारणार्थ ही उपर्युक्त स्पष्टीकरण किया गया है । काव्य को आत्मनिष्ठ कहना और वर्ड्स्वर्थ के समान हृदयस्थ भावनाओं के उद्रेक को काव्य मानकर आत्मनिष्ठता के जाल में प्रविष्ट होना बहुत ही सरल है । अनेक विद्वान् इसी जाल में फंस गए हैं, इसलिए काव्यस्वरूप और रस के सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न हुई है ।

मिलती है ? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए भरतमुनि ने कहा है : विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से प्रस्तुत भाव साकार होते हैं और उन्हें रस का स्वरूप प्राप्त होता है ।[१]

हृदयस्थ भावों की वस्तुगत स्थिति की अनिवार्यता

अब विचारणीय यह है कि विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के संयोग से कवि मानस में उद्‌भूत भावनात्मक अनुभूति किस प्रकार से साकार होती है । प्रथम एक बात स्पष्ट समझ लेनी आवश्यक है कि किसी भी मनोवस्था का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता । मनोवस्था के द्योतक जो-जो शारीरिक चिह्न होते हैं उनके आधार पर हम उस-उस मनोवस्था का अनुमान लगाते हैं । इसी कारण विलियम जेम्स आदि मानसशास्त्रज्ञों से गलती हुई और उन्होंने मनोभावनाओं का विश्लेषण शरीर संवेदना (Organic Sensation) के रूप में किया । प्रस्तुत स्थल पर मानसशास्त्र के विवाद में प्रवेश करना अकारण है । यहाँ जो विशेष बात कहनी है वह यह है कि किसी मनुष्य को दुःख हुआ, किसी में क्रोध जागृत हुआ, किसी स्त्री को विरह असह्य प्रतीत हुआ इत्यादि मनोवस्थाओं की अभिव्यक्ति का एक ही द्योतक साधन है और वह है हमारी अवस्था । शारीरिक अनुभाव अथवा संचारी भावों का अभिप्राय इन शारीरिक अवस्थाओं से ही है । विभाव का तात्पर्य भी यह है : जिन पर मनोभावों का आरोप किया जाता है वे नायक-नायिका आदि पात्र तथा भावों के परिपोष के लिए आवश्यक परिस्थितियों की संगति । अर्थात् कवि अपने मन में उद्दीप्त मनोभाव विभाव आदि पर आरोपित करता है और अनुभाव अथवा संचारी

---

१. भरतोत्तर प्राचीनों को सम्बन्धात्मक गुण (Relational Property) नाम की चीज का ज्ञान नहीं था । अन्यथा रस कहां है ? विभाव में है या अनुभाव में या संचारीभाव में ? इस प्रकार की भट्टनायक आदि ने आशंका न उठाई होती । अ, ब, क को एक त्रिकोण माना जाए तो त्रिकोण कहां है ? वह अ,ब में है या ब,क में है या क,अ में है और यदि वह इनमें से कहीं भी नहीं है तो त्रिकोणत्व की ही सत्ता नहीं है, यह कहना जितना हास्यास्पद है उतना ही रस कहां है यह पूछना ? परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि वेदान्त ने सम्बन्धों को मिथ्या ठहराया था इसी कारण उपर्युक्त विचारसरणी प्रसृत हुई ।

भावों की सहायता से वह इन भावों को मूर्त रूप प्रदान करता है। उदाहरणार्थ, 'लीला कमल पत्राणि रचयामास पार्वती' यह पंक्ति लीजिए। कवि के मानस-चक्षुओं के सामने एक प्रेमी और एक प्रेयसी स्थित है। प्रेमी प्रेयसी से याचना करता है, इससे प्रेयसी को हर्ष होता है और वह आनन्द से उसे स्वीकृति प्रदान करती है, यह प्रस्तुत काव्यपंक्ति की पृष्ठभूमि है। प्रेयसी के हृदयगत हर्ष और उसकी स्वीकृति को प्रस्तुत स्थल पर कवि साकार करना चाहता है। इस हर्ष की अभिव्यक्ति के लिए प्रेयसी जिन शारीरिक हावभावों, मुख अथवा शरीर से जिन सात्विक भावों को व्यक्त करेगी उसी से उसके हृद्गत हर्ष की हमें प्रतीति हो सकेगी। फलतः कवि ने पार्वती के मनोभावों का वर्णन कमलपत्रों की रचना के माध्यम से किया है अर्थात् एक प्रेयसी के हृदयगत भाव को व्यक्त करने के लिए पार्वती, कमलपत्र और उनकी रचना इत्यादि वस्तुओं का अथवा शारीरिक हाव-भाव आदि की सहायता लेना आवश्यक है। इसी कल्पना को यदि नाट्य में व्यक्त किया जाता तो वास्तविक पार्वती ने जिस प्रकार से भाव व्यक्त किये होते अथवा उसके मुख पर जिस प्रकार से लज्जा-भाव के चिह्न रक्तिमा आदि दिखाई देते ठीक उसी प्रकार की चेष्टाएं और अभिनय पार्वती का काम करने वाली नटी कर दिखाती। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इनकी सहायता से पार्वती के हृदयगत (कवि द्वारा अनुभूत) भाव को व्यक्त किया गया। इससे स्पष्ट है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इनकी सहायता से हृदयस्थ भाव साकार होते हैं और इस प्रकार से वस्तुगत हुए हृदयस्थ भावों को ही भरतमुनि ने रस कहा है।[1] इस विषय में काव्य और नाट्य का चित्रकला से पर्याप्त साम्य है। जिस प्रकार काव्य में शब्दों की सहायता ली जाती है, अथवा नाट्य में अभिनय की सहायता ली जाती है, उसी प्रकार चित्रकला में रंगसंगति की सहायता से हृदयस्थ भाव साकार किए जाते हैं और उन्हें कला का स्वरूप प्राप्त होता है। इसी कारण विश्वनाथ ने काव्य की व्याख्या करते समय 'वाक्यं रसात्मकम्

---

१. 'भाव इति कारणसाधनम्' भरतमुनि के प्रस्तुत वाक्य में कारण का तात्पर्य है रस और उसका साधन है भाव।

काव्यम्' कहा है अर्थात् जिस वाक्य में रस है, या रस जिस वाक्य की आत्मा है, वह वाक्य काव्य है।[१] जगन्नाथ की व्याख्या भी इसी प्रकार की है।[२] इस प्रकार के वस्तुरूप में परिणत हृदयस्थ भावों को रस मानने में भरतमुनि का औचित्य स्पष्ट है। जिस प्रकार से पंच महाभूतों का ज्ञान होने के लिए हमें तन्मात्र जैसी वस्तु माननी अनिवार्य है उसी प्रकार सहृदय को आस्वाद लेने के लिए कोई न कोई आस्वाद्य वस्तु अपेक्षित है और वह है रस। सांख्यशास्त्र और आयुर्वेद से भरतमुनि ने रस शब्द ग्रहण किया और उसका काव्यशास्त्र में स्थान निर्धारित कर दिया।

वस्तुनिदर्शक शब्द : शृंगार

भरतमुनि ने अपनी रस-व्यवस्था में जिस 'शृंगार' शब्द का प्रयोग किया है वह इस विषय में बहुत उद्‍बोधक है। इसके आधार पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत के मन में रस तन्मात्रवाचक या वस्तु-वाचक था। शृंग[3] का अर्थ है मदन। 'शृंगम् ऋच्छति किंवा इर्यति इति

---

१. यह प्रवृत्ति आगे विज्ञानवादी दार्शनिकों के और अभिनवगुप्त आदि के प्रभाव-वश स्थिर न रह सकी। विश्वनाथ ने स्वयं रस के भाष्य में रस का अर्थ दिया है आस्वाद।

२. 'रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'।

३. शृंग शब्द 'शृ' धातु से बना है। 'शरणाति इति शृंगम्'। शृ धातु गति, हिंसा और दर्शन इन अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'मेदिनी कोष' में शृंग शब्द के अनेक अर्थ हैं। 'शृंगम् प्राधान्य सान्वोः पश्वंगेच' इस प्रकार अमरकोश में कहा गया है। शृंग का अर्थ है नुकीला पशु का अंग अर्थात् सींग। यह मूल अर्थ हुआ। इससे पशु हिंसा करने में समर्थ होता है, इस प्रकार की व्युत्पत्ति की गई। परन्तु नुकीला कहने से पर्वत-शिखर भी हो सकता है। क्योंकि वह नुकीला होता है। अतः पर्वत-शिखर को भी शृंग कहने लगे। इस प्रकार से अर्थ संक्रमणवश शृंग का अर्थ मदन भी हुआ। यह अर्थ कैसे हुआ इसका स्पष्टीकरण करना कठिन नहीं है। शृंग मदन का प्रतीक है यह तो स्पष्ट ही है। इसे फ्रायड सूचित दोष नहीं समझना चाहिए। शृंग का जो श्री बेडेकर निरूपित अर्थ—शुभ है वह सही होने पर भी बहुत बाद का है। इस प्रकार का अर्थ निकलने का कारण यह है कि प्राचीन काल में मदन को अथवा अधिक स्पष्ट कहें तो मिथुन को अशुभ नहीं मानते थे। विचारों के संपर्क से भाषा की इसी प्रकार से वृद्धि होती है। इसी कारण शृंग शब्द के अनेक अर्थ हुए।

शृंगारः।' अर्थात् जिसके कारण मदन की प्राप्ति होती है वह शृंगार, रति अथवा मदन का साधन। जिस वस्तु से रति स्थायीभाव प्रज्वलित होता है वह वस्तु अर्थात् शृंगार है। आज भी मराठी में हम शृंगार शब्द का वस्तुवाचक के रूप में ही प्रयोग करते हैं। शृंगार का अर्थ है साज-सज्जा और जिन-जिन वस्तुओं से सौन्दर्य अथवा आकर्षण की वृद्धि होती है उन-उन सभी वस्तुओं को अर्थात् वेशभूषा, आभूषण इत्यादि वस्तुओं को शृंगार शब्द से सम्बोधित करने की प्रथा है। (१) जिन-जिन सजावट की वस्तुओं से रति प्रज्वलित होती है अथवा (२) जिसकी सहायता से रति प्रकट हो सकती है उस वस्तु को, साधन अथवा चिह्नों को अर्थात् रस को शृंगार कहा जाने लगा। रति का तात्पर्य है शृंगार के कारण समुद्भूत चित्तवृत्ति और इसके तन्मात्र का अभिप्राय है— शृंगार। अधिक स्पष्ट रूप में कहें तो रति की मनोवस्था के चिह्न का ही नाम शृंगार है। इस विषय में यह प्रश्न साहजिक है कि शृंगार के विषय में जिस प्रक्रिया का विवेचन किया जा रहा है वह अन्य रसों पर किस प्रकार से अभिघटित हो सकती है? शृंगार शब्द जैसा वस्तु-निदर्शक है वैसे (हास्य को छोड़कर) वीर, बीभत्स, रौद्र, अद्भुत, करुण, भयानक अथवा शान्त हैं क्या? इसका उत्तर यह है कि भरत के समय शृंगार को रसराज माना गया था। और शृंगार के अनुरोध से ही अन्य समस्त रसों की व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार की व्यवस्था करते समय प्रत्येक रस के विषय में वस्तु निदर्शक शब्द न मिल सकने के कारण उस-उस रस की कल्पना व्यक्त करने के लिए जो शब्द सामान्यतः अत्यन्त निकट का प्रतीत हुआ होगा उसका प्रयोग किया गया होगा। विचारों की अभिवृद्धि जितनी शीघ्र होती है उतनी ही शीघ्र उन विचारों को अभिव्यक्त करने वाली भाषा की नहीं होती। और हमें नये-नये विचारों को व्यक्त करने के लिए पूर्व-प्रयुक्त शब्दों का ही प्रयोग करना पड़ता है। अतः अन्य रसों के विषय में भरत को उचित शब्द नहीं मिले तो इस विषय में खेद की कोई बात नहीं है।[1] और इस कारण मेरे

---

१. भरतमुनि ने रस-संज्ञाओं की वैज्ञानिकता का विवेचन नहीं किया है, क्योंकि उन्हें ये नाम आप्तोपदेश मे प्राप्त हुए थे…रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेश सिद्धानि नामानि भवन्ति। ना० शा० अ० ६।१६
अनुवादक

सिद्धान्त में किसी प्रकार की बाधा भी नहीं आती ।

रस-ग्रहण की प्रक्रिया

यहाँ तक प्रथम प्रक्रिया का विवेचन हुआ । प्रथम प्रक्रिया काव्य-निर्माण की है तो दूसरी प्रक्रिया काव्य के रस-ग्रहण की । इस प्रक्रिया का परिपाक भी आस्वाद में होता है । प्रस्तुत दूसरी प्रक्रिया एक प्रकार से प्रथम प्रक्रिया का ही दर्पणगत प्रतिबिम्ब है । रस-ग्रहण की प्रस्तुत प्रक्रिया का ज्ञान-प्रक्रिया से भी एक प्रकार का साम्य है । ज्ञान-प्रक्रिया में जिस प्रकार से एक ज्ञाता और एक ज्ञेय की आवश्यकता होती है (और ज्ञेय को ही सांख्यों की परिभाषा में तन्मात्र कहा जाता है) उसी प्रकार रस-ग्रहण की प्रक्रिया में रस-ग्रहणकर्ता अर्थात् सहृदय या 'सामाजिक' की आवश्यकता होती है । और जिसका ग्रहण या आस्वादन होता रहता है वह रस या आस्वाद्य पदार्थ सांख्यों की तन्मात्रों के समान ही ज्ञेय में स्थित होता है । और इन दोनों के संयोग से काव्यगत सौंदर्य सहृदय के मन पर प्रतिबिम्बित होता है । उसकी चित्तवृत्ति अथवा उसका स्थायीभाव उद्रिक्त होता है और उसे आनन्द की प्राप्ति होती है । सहृदय का मन जितना ही अधिक कवि के अन्तःकरण के निकट होगा उतना ही उसका हृदय अधिक उद्रिक्त होगा । असहृदय व्यक्ति का हृदय इसी कारण से उद्रिक्त नहीं होगा । इससे तात्पर्य यह निकला कि चित्तवृत्ति का उद्रिक्त होना अथवा न होना यह बाह्य वस्तु अर्थात् रस के आकलन पर निर्भर है । यदि रस का तात्पर्य केवल मनोभावना ही होता तो अरसिक में भी वे होती ही हैं । उनके उद्रेक में कोई देरी नहीं लगती । परन्तु जिस प्रकार से बाह्य वस्तु का ज्ञान अनेक विध तथ्यों पर अवलम्बित होता है, उसी प्रकार से बाह्य वस्तु के रस-ग्रहण के लिए भी अनेक बातें आवश्यक होती हैं । किसी सामान्य वस्तु को देखकर जिस प्रकार से कवि को भावनात्मक अनुभूति होती है उसी प्रकार की (किन्तु मूल रूप में वही नहीं) अनुभूति कवि की भावनात्मक अनुभूति के वस्तुकरण होने पर जो 'रस' नामक तन्मात्र उत्पन्न होता है, उसे देखकर सहृदय के मन में भी अनुभूति उत्पन्न होती, अतः इससे हर्ष की उत्पत्ति होती है ।

काव्योत्पत्ति से लेकर रस-ग्रहण तक इन दो प्रक्रियाओं के विषय में भरतमुनि ने जो कहा है वह उनके सूत्रों के अर्थ के आधार पर निश्चित करना उचित होगा। भरतमुनि ने अपना कथन 'नहि रसादृते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्तते' इस सूत्र से आरम्भ किया है। 'अर्थ' का तात्पर्य, जैसा कि श्री बेडेकर मानते हैं, विषय है। किसी भी प्रकार के ज्ञान में हमें विषय की आवश्यकता होती है। फिर वे चाहे आंतर हों चाहे बाह्य। इसी प्रकार नाट्य अथवा काव्य के लिए भी कोई न कोई विषय अपेक्षित है। इसके बिना सामाजिकों को नाट्य (अथवा काव्य) का आकलन नहीं होगा। उसका अनुरंजन नहीं होगा। अर्थात् नाट्य (अथवा काव्य) के लिए रस के बिना अन्य कोई भी वस्तुनिष्ठत्व नहीं हो सकेगा। भरत के समक्ष ज्ञान त्रिपुटी का दृष्टान्त था। जिस प्रकार से किसी ज्ञान-प्राप्ति के लिए ज्ञेय की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार से नाट्य अथवा काव्य के आस्वाद की प्रतीति के लिए रस नामक वस्तु की आवश्यकता होती है। तात्पर्य, उपर्युक्त सूत्र से भरतमुनि ने मेरे विवेचन की दूसरी प्रक्रिया सूचित की है। ये नाट्य-विषय कैसे उत्पन्न होते हैं? यह साहजिक ही दूसरा प्रश्न है और इस प्रश्न का उत्तर प्रथम प्रक्रिया में मिलता है। फलतः भरतमुनि प्रथम प्रक्रिया की ओर अग्रसर होते हुए कहते हैं—'तत्र विभावानुभावव्यभिचारि संयोगात् रस-निष्पत्तिः'। इस प्रक्रिया का आरम्भ कवि के मन में होता है और कवि मनोगत आन्दोलन को जब विषयत्व (नाट्यगत अथवा काव्यगत) प्राप्त होता है तब उसे रस कहा जाता है। उपर्युक्त सूत्र का स्पष्टीकरण मैंने पहले ही कर दिया है, अतः यहाँ पुनरावृत्ति अनावश्यक है। परन्तु इन दो सूत्रों का जो स्पष्टीकरण भरतमुनि ने दृष्टान्त के द्वारा प्रस्तुत किया है उसका अर्थ मैं विशद करता हूँ।

भरत के मत में—

(प्रथम प्रक्रिया) 'को दृष्टान्तः। अत्राह यथाहि नानाव्यंजनौषधि-द्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति—यथाहि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्तन्ते तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति इति। अत्र आह रसः इति कः पदार्थः। उच्यते। आस्वाद्यत्वात्। (दूसरी प्रक्रिया) कथमास्वाद्यते रसः। यथाहि नाना

व्यंजन संस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति । तथा नानाभाषाभिनयव्यंजितान् वागंग सत्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इति अभिख्याताः ।[१]

इस परिच्छेद का अर्थ इस प्रकार है : जिस प्रकार से अनेक मसालों और औषधि द्रव्यों के संयोग से अर्थात् अर्क निकालने से रस-निष्पत्ति होती है अथवा जिस प्रकार से गुड़ आदि द्रव्यों, व्यंजनों और वनस्पतियों से षड्रस उत्पन्न होते हैं (अर्थात् गुड़ आदि द्रव्य, व्यंजन और औषधियों का ही षड्रस बनता है) उसी प्रकार स्थायीभाव (कवि हृदयगत) भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों के (अर्थात् विभावादि) रूप को प्राप्त होने पर भी (अर्थात् स्थायीभावों द्वारा विभाव, अनुभाव आदि का रूप धारण करने पर) रसत्व को प्राप्त होते हैं (अर्थात् रसरूप बन जाते हैं) । भरतमुनि ने आगे प्रश्न उठाया है :—'रस को पदार्थ[२] क्यों माना जाय ?' इसका उत्तर भी उन्होंने दिया है : 'आस्वाद का अधिष्ठान बनने का उसका धर्म है, इस कारण'। (यहाँ तक भरतमुनि ने प्रथम प्रक्रिया का वर्णन किया है और इसके आगे उन्होंने दूसरी प्रक्रिया का वर्णन किया है) । इस रस का आस्वाद कैसे ग्रहण किया जाता है ? जिस प्रकार से नाना प्रकार के मसालों में पकाये हुये अन्न को खाने वाले 'सुमनसः' अर्थात् सहृदय व्यक्ति रस का आस्वाद लेते हैं और हर्ष आदि के प्रति अग्रसर होते हैं, (अर्थात् उन्हें हर्ष आदि प्राप्त होते हैं—इस स्थल पर 'च' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है, इससे हर्ष और रसास्वाद की भिन्नता सिद्ध होती

---

१. इस परिच्छेद में भरत ने दो प्रक्रियाओं में (१) रस-निष्पत्ति और (२) रसास्वाद का स्पष्ट रूप में निरूपण किया है। भरत के उपर्युक्त परिच्छेद में 'रसनिष्पत्तिर्भवति' और 'कथमास्वाद्यते रसः' ये शब्द द्रष्टव्य हैं। उसी प्रकार 'च' शब्द से यह भी स्पष्ट है कि रस आस्वाद से भिन्न है।

२. संस्कृत के दर्शनों में द्रव्य, गुण, कर्म इत्यादि को पदार्थ माना गया है। इनमें से रस कौन-सा पदार्थ है ? उसे आस्वाद न कहकर 'आस्वाद्य' कहा गया है। अतः भरत के मत में वह गुणवाचक नहीं वरन् द्रव्यवाचक है। द्रव्य गुणों का अधिष्ठान होता है। भरतमुनि ने द्रव्य शब्द का प्रयोग किया है जो महत्वपूर्ण है।

है) उस प्रकार नानाभाव (विभावानुभाव आदि) और अभिनय इत्यादि से युक्त और वागंगसत्व में रूपांतरित स्थायीभावों का (अर्थात् रस का) 'सुमनस' अर्थात् सहृदय प्रेक्षक आस्वाद लेते हैं और (इस स्थल पर भी 'च' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है) हर्ष आदि के प्रति अग्रसर होते हैं। इसी कारण इस प्रकार के नानाभावाभिनय व्यंजित और वागंगसत्वोपेत स्थायी भावों को नाट्य-रस कहा गया है। वागंगसत्वोपेत होने के उपरांत उसमें मानसिकत्व नहीं रहता, इसका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है।

इस प्रकार भरतमुनि के सूत्र का सरल अर्थ है। इसमें प्रथम प्रक्रिया काव्य-निर्मिति की प्रक्रिया है और दूसरी प्रक्रिया का सम्बन्ध रसास्वाद से है, इस प्रकार उन्होंने इन दो प्रक्रियाओं का वर्णन किया है। इस परिच्छेद का विपर्यय किए बिना इसमें से भिन्न अन्य कोई अर्थ निकालना सम्भव नहीं है। अतः रस जैसा पदार्थ काव्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस विषय में शंका के लिए अवकाश नहीं है। भरतमुनि ने यदि किसी विशिष्ट परिस्थिति के अनुसार रस-सिद्धान्त की स्थापना की हो तो भी परिवर्तित परिस्थिति में भी काव्यशास्त्र के विशिष्ट तत्त्व के रूप में रस का स्थान स्थिर रहता है और रस को अथवा रस-सिद्धांत को इतिहास-संग्रहालय में स्थान देने की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रस्तुत लेख में मैंने रस को आस्वाद्य पदार्थ माना है। कतिपय पंडित इस पर न्यायशास्त्र का शाब्दिक प्रमाण लेकर आस्वाद्यत्व और आस्वाद की पारस्परिक व्यवच्छेदकता का निरूपण करेंगे[1] आस्वाद्य का तात्पर्य है आस्वाद का अधिष्ठान। आस्वाद्यत्व का तात्पर्य अधिष्ठानत्व, द्रव्यत्व, अधिष्ठान का धर्म इस प्रकार से निरूपित किया जाय तो

---

१. वस्तुतः न्यायशास्त्र की परिभाषा का प्रस्तुत स्थल पर प्रयोग समुचित नहीं है। एक तो वह पर्याप्त बाद की है। इसके अतिरिक्त उसका प्रयोग करने पर भी आस्वाद्यत्व और आस्वाद को एक रूप नहीं किया जा सकता। क्योंकि आस्वाद्यत्व में आस्वाद के अतिरिक्त अन्य गुण भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ द्रव्यत्व और गुण को लिया जा सकता है। जिस प्रकार से द्रव्यत्व का तात्पर्य गुण नहीं हो सकता उसी प्रकार आस्वाद्यत्व का अर्थ आस्वाद नहीं हो सकता।

'आस्वाद्य' शब्द को क्या नामवाचक अर्थ में अन्यत्र कहीं प्रयुक्त किया गया है ? इस प्रकार का प्रश्न भी किया जाएगा। आस्वाद-आस्वाद्य के समान ही आधार-आधेय इन शब्दों का युग्म है। 'पानीय' शब्द का भी प्रयोग इसी प्रकार का है।[1] भाषा में शब्दों का स्वरूप इसी प्रकार से परिवर्तित होता रहता है, इस बात से सम्भवतः पंडितों का समाधान नहीं हो सकेगा, इसकी मुझे पूर्ण प्रतीति है। इसका कारण यह है कि दर्शन के कारण हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन आ गया है। परन्तु भरत के समय दर्शनक्षेत्र में इस प्रकार का परिवर्तन नहीं आया था। इसी कारण मेरे विचार में मैंने जिस दृष्टिकोण का निरूपण किया है वह भरतमुनि का ही दृष्टिकोण है।

रस-व्याख्या के विषय में मेरे मन में जो विचार उद्भूत हुए उनका मैंने निरूपण कर दिया है। रस-सिद्धान्त के पीछे कौन-सी सामान्य भूमिका हो सकती थी, यही मेरा वर्ण्य-विषय है। कुल मिलाकर रस नौ माने जायँ या अधिक, रस-व्यवस्था स्वीकार की जाय अथवा उसका त्याग किया जाय, ये प्रश्न मेरे सामने नहीं हैं। रस-व्यवस्था का परित्याग यदि इष्ट प्रतीत होता है तो उसका परित्याग किया जाए मुझे इस विषय में कुछ भी नहीं कहना है। मेरा मुख्य प्रतिपाद्य यही है कि भरतमुनि के समय रस वस्तुनिष्ठ और तन्मात्रवाचक था। आगे चलकर अभिनव-गुप्त से लेकर रस को आत्मनिष्ठ समझा गया और उसका अर्थ आस्वाद-आनन्दात्मक किया गया। जहाँ तक इसकी अस्वीकृति का सम्बन्ध है, इस परम्परागत रस-व्यवस्था के विषय में जगन्नाथ ने भी अपनी अस्वीकृति दिखाई है और काव्य का परिमाण (मापदण्ड) उनके मत में वस्तुनिष्ठ रमणीयत्व होना आवश्यक है। परन्तु जगन्नाथ भी रस के परम्परागत अर्थ से आगे नहीं जा सके। इस कारण काव्य-स्वरूप का आकलन करके भी परम्पराधीन ही रहे। जगन्नाथ-प्रतिपादित रमणीयार्थ प्रतिपादकत्व ही भरतमुनि को 'रस' शब्द से अभिप्रेत था। मेरा विषय वास्तविक रसचर्चा का नहीं है। परन्तु मेरे मित्र डा० मा० गो० देशमुख

---

१. द्रव्य, प्रमेय, ज्ञेय इत्यादि शब्दों को भी इसी प्रकार से आज का स्वरूप (नाम-स्वरूप) प्राप्त हुआ है।

ने लगभग दो वर्ष पूर्व (सन् १९४९) विदर्भ साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष पद से 'भावगंध' का सिद्धान्त निरूपित किया था, तब से मेरा ध्यान रस-सिद्धान्त की ओर गया है। और श्री दि० के० बेडेकर के युग-प्रवर्तक लेख को पढ़कर एक बार अँग्रेज़ी में[1] लिखे गए अपने विचारों को मराठी में निरूपित करने का ध्यान आया। अतः डा० मा० गो० देशमुख और श्री बेडेकर का ऋण स्वीकार करके मैं इस दीर्घ लेख को यहीं समाप्त करता हूँ।

१. रसस्वरूप के सम्बन्ध में एक निबन्ध डा० वारलिंगे ने अँग्रेजी में 'फिलासफी एसोशियेशन' के एक अधिवेशन (अमरावती) में पढ़ा था।

६ | मूल रस-सिद्धांत और कतिपय आलोचक

परम्परागत रस-सिद्धान्त की न्यूनताएँ

नांदेड़ साहित्य संघ की ओर से प्रवर्तित 'रस' यज्ञ में महामहोपाध्याय पं० यज्ञेश्वर शास्त्री कस्तुरे के साथ मुझे तीन आहुतियाँ देने के लिए बुलाया गया है। इसके लिए मैं आप सब संचालकों का आभार मानना अपना पहला कर्तव्य समझता हूँ। परन्तु गुरुवर्य कस्तुरे शास्त्री के भाषण के उपरान्त मेरा भाषण करना वैसा ही होगा जैसा कि गौड़पादाचार्य के प्रवचन के बाद किसी कुक्कुट पादमिश्र का आरवण हो। तथापि गुरुवर्य के भाषण के उपरान्त व्याख्यान देने का कारण इतना ही है कि रस-सिद्धान्त में इससे पूर्णता आ सके। श्री कस्तुरे शास्त्री ने रस-सिद्धान्त का पारम्परिक स्वरूप—अर्थात् आनन्द-सिद्धान्त का स्वरूप समझाया है। काव्य-प्रयोजन से लेकर मम्मटाचार्य तक रस-सिद्धान्त का विकास किस प्रकार से हुआ इसका उन्होंने निरूपण किया है। इसके साथ ही रस-सिद्धान्त पर प्रस्तुत आधुनिक आक्षेपों से परिचित कराने की आज्ञा भी मुझे हुई है। उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर अर्वाचीनों द्वारा रस-सिद्धान्त पर प्रस्तुत आरोप-प्रत्यारोपों का परिचय देने के उपरान्त मैं अपना मत रखूँगा। आचार्य ने जिन काव्य-सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है वे भारतीय सिद्धान्त समझे जाते हैं। परन्तु पाश्चात्य साहित्यशास्त्र से जैसे-जैसे हमारा सम्बन्ध बढ़ता गया वैसे-वैसे इन सिद्धान्तों में कुछ न कुछ अपूर्णता है, इसकी हमें प्रतीति होने लगी है। फलतः रस-सिद्धान्त की आलोचना आरम्भ हुई। प्रस्तुत आलोचकों के दो वर्ग बनाये जा सकते हैं।

आलोचकों का प्रथम वर्ग :

रस-व्यवस्था आवश्यक है किन्तु—

(१) जिन्हें रस-व्यवस्था तो मान्य है किन्तु रसों की संख्या निर्धारित

करना मान्य नहीं है। आलोचकों का प्रस्तुत वर्ग अभी उत्पन्न हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता। मूल रसों की संख्या द्रुहिण और भरत ने आठ ही निर्दिष्ट की है। परन्तु बाद में शान्त, वत्सल और भक्ति इन रसों का उसमें समावेश हुआ। इन रसों के समावेश के उपरान्त भी रस-व्यवस्था कतिपय आलोचकों को अपूर्ण प्रतीत हुई है, फलतः कतिपय अन्य रसों के समावेश की इच्छा से कवि अनिल ने 'प्रक्षोभ रस' और आचार्य जावडेकर ने 'क्रान्ति रस' को पृथक् मान्यता देने पर बल दिया है। रसों की संख्या अपूर्ण हो सकती है और इस अपूर्ण रस-संख्या को पूर्ण भी किया जा सकता है। परन्तु रस को 'आत्मतत्त्व' आस्वाद या आनन्द रूप मान लेने पर इस प्रकार के अन्य रसों की आवश्यकता होगी या नहीं यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का रस-स्वरूप प्रतिपादित करने में उपयुक्त विद्वानों ने मानसशास्त्र से भी इसका सम्बन्ध जोड़ने का थोड़ा-सा प्रयत्न किया है। क्रान्ति और प्रक्षोभ नामक नवीन भावनाएँ हममें उत्पन्न हुई हैं, अतः प्रत्येक भावना के अनुरूप एक-एक रस भी होना चाहिए। इस प्रकार का तर्क प्रस्तुत चिन्तन के मूल में उपलब्ध होता है। परन्तु यह खेदपूर्वक कहना पड़ता है कि रस-सिद्धान्त की अपूर्णता की आलोचना करते समय उपर्युक्त लेखक अधिक गहराई में नहीं गये। कला-मीमांसा मानसशास्त्र की कसौटी पर निर्धारित करने की मानसशास्त्रीय आपत्ति (Psychological fallacy) इसमें होगी। सहज प्रवृत्ति (Instinct) और स्थायी भाव इनका पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करने की डा० वाटवे की योजना जान-बूझकर अथवा अनजाने ग्रहण की गई है। परन्तु रस-स्वरूप के विषय में इन विद्वानों ने कोई भी मत व्यक्त नहीं किया है, अतः प्रथम रस का स्वरूप निर्धारित करने के उपरान्त ही रस-संख्या पर विचार करना होगा।

आलोचकों का दूसरा वर्ग :

(१) रस-सिद्धान्त के आलोचकों के इस दूसरे वर्ग को रस-व्यवस्था ही मूलतः मान्य नहीं है। इस वर्ग में मुख्य रूप से श्री मर्ढेकर, श्री दि० के० बेडेकर और डा० मा० गो० देशमुख आदि लेखक आते हैं। परन्तु

इन तीनों आलोचकों की साहित्य-मीमांसा की भूमिका एक-दूसरे से बहुत भिन्न है, अतः इन पर पृथक्-पृथक् विचार करना आवश्यक होगा। डा० देशमुख के कथन से प्रतीत होता है कि रस-सिद्धान्त प्राचीन काव्य पर लागू होता है। परन्तु पाश्चात्य शिक्षा के संनिकर्ष से आधुनिक मराठी काव्य अधिक से अधिक वस्तुवादी बनता जा रहा है। अतः रस की कसौटी इस काव्य के लिए अधूरी है। स्व० केशवसुत अथवा श्री मर्ढेकर की कविता या 'नर्सरी राइम्स'—शिशुगीत सुनिश्चित रस-व्यवस्था के साँचे में नहीं बैठते। आज तक के सभी भारतीय विचारकों के समान डा० मा० गो० देशमुख भी रस का तात्पर्य आनन्द या काव्यानन्द ही मानते हैं। अर्थात् वे रसों को मानसिक अथवा (Subjective) आत्मनिष्ठ मानते हैं और 'सब्जेक्टिव' काव्य को वे सम्पूर्ण काव्य नहीं मानते और आधुनिक-काव्य वस्तुनिष्ठ (Objective) है, यह उनका दावा है, अतः वे रस की अपेक्षा निराली वस्तुनिष्ठ कसौटी ढूंढ़ने का प्रयत्न करते हैं। इनके अनुसार रस का तात्पर्य है भावों का परिणाम। भाव ही जहाँ मूलतः मानसिक होते हैं, वहाँ रस के विषय में कुछ कहने के लिए अवशिष्ट नहीं रहता। परन्तु उनके मत में मानसिक भावों के तत्सम अथवा भावों के समान्तर काव्य के वस्तुजगत् में कुछ न कुछ आवश्यक तत्त्व होना चाहिए। 'रस' वह तत्सम तत्त्व नहीं है, अतः डा० देशमुख ऐसे तत्सम को 'भावगंध' संज्ञा से अभिहित करते हैं। नवीन मराठी साहित्यशास्त्र में नवकाव्य परीक्षण की कसौटी वे 'भावगंध' को ही मानते हैं। इसका तात्पर्य निकला कि काव्य के दो प्रकार किए जाएं तो प्राचीन काव्य के परीक्षण का साधन हुआ रस-सिद्धान्त और नवीन काव्य-परीक्षण का साधन हुआ भावगंध।

डा० देशमुख की उपर्युक्त स्थापना में पर्याप्त तथ्य है। इसे स्वीकार करना होगा। रस यदि मानसिक है और काव्य यदि वस्तुगत है तो यह बात स्वाभाविक ही है कि काव्य की कसौटी रस की अपेक्षा निराली ही होनी चाहिए। परन्तु प्राचीन काव्य आत्मनिष्ठ है और आधुनिक वस्तुनिष्ठ है, इस स्थापना में एक बहुत बड़ी भ्रान्ति है। एक दृष्टि से देखें तो आत्मनिष्ठ काव्य भी काव्य रूप में वस्तुनिष्ठ ही होगा और वस्तुनिष्ठ काव्य का भी मनोव्यापार से सम्बन्ध होगा ही। अतः साहित्य-समीक्षकों

द्वारा निर्दिष्ट आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दो प्रकार तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सुसंगत नहीं हैं। ऐसी स्थिति में प्राचीन काव्य को काव्य रूप में परखने की एक कसौटी और अर्वाचीन काव्य को परखने की दूसरी कसौटी मानने की स्थापना विचित्र लगती है। भावगंध की कसौटी पर नवकाव्य का ही परीक्षण कैसे किया जा सकता है और रस-सिद्धान्त से नवकाव्य का परीक्षण कैसे सम्भव नहीं है ? इत्यादि प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है। प्राचीन काव्य और नवीन काव्य को परखने की निराली कसौटियाँ क्यों होनी चाहिएं, यही मेरी समझ में नहीं आता। रस-सिद्धान्त यदि काव्य की कसौटी नहीं है तो वह दोनों ही काव्यों की कसौटी नहीं हो सकता और भावगंध यदि कसौटी है तो वह दोनों ही काव्यों की कसौटी हो सकता है। परन्तु मेरी धारणा में रस-सिद्धान्त यदि आनन्द-सिद्धान्त है तो वह दोनों ही काव्यों की कसौटी नहीं हो सकता। यदि वह आनन्द-सिद्धान्त नहीं है तो वह दोनों ही प्रकार के काव्यों के लिए आवश्यक होगा। परन्तु काव्य के काव्यत्व निर्धारण की कसौटी रस न होकर सौन्दर्य होनी चाहिए। इस सौन्दर्य के अन्वेषण के लिए अलंकार, रीति, ध्वनि, प्रतिमा इत्यादि सभी साधनों का उपयोग लिया जा सके। रस शब्द मूलतः वस्तुनिष्ठ और तन्मात्र के जगत् का है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि डा० महोदय को भावगंध शब्द से जो अभिप्रेत है, वही मूलतः कदाचित् रस शब्द से व्यक्त हो सकेगा। यदि ऐसा है तो कुछ सीमा तक डा० महोदय की और मेरी स्थापना एक जैसी है यह कहना पड़ेगा। भावगंध शब्द का निर्माण करते समय उन्हें अनजाने ही तन्मात्र के जगत् में प्रवेश करना पड़ा होगा। परन्तु वे केवल 'गंध' शब्द का प्रयोग करते तो उसकी भावनाओं से सम्बन्ध दर्शाना कठिन होता, अतः उन्होंने 'भावगंध' इस सामासिक शब्द का निर्माण किया है।

श्री बेडेकर की स्थापना

मराठी के आधुनिक समीक्षकों में श्री बेडेकर का स्थान पर्याप्त उच्च है। विशेषतः रस-सिद्धान्त से सम्बन्धित उनके लेख तो युग-प्रवर्तक ही हैं। अभिनवगुप्त के उपरान्त जितने रस-मीमांसक हुए उन्होंने रस का

तात्पर्य आनन्द, रस अर्थात् आस्वाद इसी रूप में ग्रहण किया है। और पंडितराज जगन्नाथ भी इस पारम्परिक प्रथा को नहीं तोड़ सके। अतः 'रस' मूलतः मानसिक नहीं है, इस प्रकार के श्री बेडेकर के अनुसन्धान का जितना अभिनन्दन किया जाये थोड़ा है। रस-सिद्धान्तगत एक-एक शब्द का परीक्षण करके उसका अर्थ निश्चित करने में उन्होंने जो श्रम किया है, साहित्यशास्त्र के इतिहास में उसकी समता नहीं है। परन्तु इतना सब मान्य करने पर भी मैं श्री बेडेकर की समीक्षा-पद्धति से सहमत नहीं हूँ। उनकी पद्धति ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method) है। उसमें विश्लेषण पद्धति का अन्तर्भाव होने पर भी मूलभूत प्रवृत्ति स्थिर है। फलतः रस किसे कहा जाय ? इस मूलभूत प्रश्न पर श्री बेडेकर चिन्तन ही नहीं करते। इस प्रश्न पर विचार करना उन्हें आवश्यक नहीं लगता। मूल में रस का क्या स्वरूप था ? इस पर ही उन्होंने विचार किया है। प्रत्येक सिद्धान्त अपने सन्दर्भ में ही सत्य ठहरता है, अतः लगभग उनकी धारणा बन चुकी है कि रस-सिद्धान्त आज सत्य और उपयुक्त नहीं रह सकता। इस कारण उन्होंने रस-सिद्धान्त किस प्रकार से उत्पन्न हुआ इसका ही विचार किया है। परन्तु इस सिद्धान्त को आधुनिक काव्य पर भी घटाना उन्हें उपयुक्त नहीं लगता।

श्री बेडेकर की पद्धति केवल ऐतिहासिक ही नहीं वरन् मार्क्सवादी अथवा 'डायलेक्टिकल' (द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी) भी है। इनके मत में सामाजिक क्रान्ति के साथ-साथ काव्य का स्वरूप भी धीरे-धीरे 'उत्क्रान्त' और व्यापक होता है। परिणामतः काव्य की प्राचीन कसौटियाँ यथार्थ रूप में आज के काव्य के लिए लागू नहीं हो सकतीं। शाकुन्तल नाटक के काव्य-परीक्षण के लिए 'रस' आवश्यक होने पर भी आधुनिक काव्य नाटक के लिए इसकी बिल्कुल भी आवश्यकता नहीं है। (डा० देशमुख भी इस बात में श्री बेडेकर से सहमत हैं) अतः इनके मत में रस तो ऐतिहासिक संग्रहालय में रखने की वस्तु बन गया है। श्री बेडेकर का प्रस्तुत कथन यदि सही है तो केवल रस ही नहीं वरन् प्राचीन काल के सभी काव्य ऐतिहासिक संग्रहालय में रखने की वस्तु बन जाने चाहिएँ। आज के युग में उनका काव्यत्व नष्ट हो जाना चाहिए। 'वस्तुतः प्रत्येक सिद्धान्त समकालीन ज्ञान की स्थिति, सम्पदा और मर्यादा की दृष्टि से

बराबर ही होता है।[1] परन्तु शनैः-शनैः तद्गत न्यूनताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। और कालान्तर में उसे छोड़ देना पड़ता है'। " 'रस-व्यवस्था' कला-स्वरूप से सम्बद्ध भारतीय सिद्धान्त होने के कारण इसकी भरत आदि विद्वानों ने स्थापना की थी, उस समय इसका महत्त्व था।" परन्तु इनके मत में आज इसका महत्त्व समाप्तप्राय हो गया है। श्री बेडेकर की प्रस्तुत स्थापना 'विज्ञानवादी' स्थापना है। इनकी स्थापना इस प्रकार की है मानो 'ग़लत' नाम की कोई चीज़ संसार में कभी होती ही नहीं और इसके साथ ही 'सही' नाम की चीज भी त्रिकालाबाधित कभी होती ही नहीं। हो सकता है कि रस-सिद्धान्त सदोष हो अथवा प्राचीन काल में महत्त्वपूर्ण (परन्तु सदोष) और आधुनिक काल में (तद्गत दोष मालूम हो जाने के कारण) त्याज्य हो। परन्तु श्री बेडेकर के मतानुसार ऐसा नहीं हो सकता। उनका कथन इस प्रकार का हो गया है मानो प्राचीन काल में पृथ्वी चौकोनी और समतल थी और अब वह गोल हो गई है। किन्तु मेरे विचार में मनुष्य के ज्ञान में अन्तर आ सकता है वस्तु के स्वरूप में नहीं। श्री बेडेकर ने इस प्रकार की अपनी विज्ञानवादी भूमिका पर ही रस-सिद्धान्त विषयक मत की स्थापना की है। 'रस और भाव मानसिक नहीं हैं और वस्तुगत भी नहीं हैं बल्कि वे नाट्यगत होते हैं,' इस प्रकार की उनकी स्थापना प्रतीत होती है। 'वस्तुगत' शब्द का प्रयोग उन्होंने 'वास्तविक जगत् का' इस अर्थ में किया हो तो मैं उनसे सहमत हूँ। 'रस' और 'भाव' लोकधर्मी नहीं हैं, यह सही है। परन्तु लोकधर्मी न होने पर भी उनके वस्तुगत और नाट्यगत दो पर्याय बनाने में क्या हेतु है? यह मुझे पूरी तरह समझ में नहीं आ सका। मनोगत भावों को वस्तुगत बनाना यही तो काव्य का वास्तविक प्रयोजन है। श्री बेडेकर का मत है—'काव्यार्थगत रस अभिव्यक्त नहीं होता, वह बीज रूप में और अव्यक्त होता है तथा इस अव्यक्त रस की अभिव्यक्ति नाट्य-प्रयोग में होती रहती है। इस अभिव्यक्ति के लिए बीच में ही भाव नामक पदार्थ का एक सीढ़ी के रूप में उपयोग होता है।' श्री बेडेकर के प्रस्तुत मत से मैं सहमत हूँ। परन्तु भाव का तात्पर्य है विभाव, अनुभाव

१. 'नवभारत' (मराठी मासिक), नवम्बर १९५०।

और व्यभिचारी भाव। श्री बेडेकर के मत में भाव मानसिक नहीं हैं। इस अनुसन्धान को उन्होंने बहुत खींचतान कर स्थायी भावों पर भी लागू किया है। परन्तु यह नाट्यशास्त्र के उद्धरणों से ही मुझे सही नहीं लगता। श्री बेडेकर का एक अन्य मत यह है कि रस-सिद्धान्त की मूल उत्पत्ति हमें देवासुर संग्राम में मिलती है। यह कथन भी उनका सत्य हो सकता है। श्री बेडेकर का अन्तिम कथन यह है कि 'रस की यह मूलभूत स्थापना परवर्ती काव्य-शास्त्रज्ञों ने छोड़ दी' और 'प्राचीन विद्या तथा कला का संशोधन और आकलन सत्यनिष्ठा से करना आवश्यक है। यदि ऐसा न किया गया तो मानो प्राचीन ज्ञान और विद्या के साथ बलात्कार और उसे नष्ट-भ्रष्ट करना होगा'। सारांशतः इनके मत में रस-व्यवस्था पर किसी प्रकार का संस्कार-परिष्कार करना सही न होगा। उसे ऐतिहासिक संशोधन का एक प्रकार मात्र समझना चाहिए। श्री बेडेकर ने अपने लेख में बहुत ही सही और मौलिक बातों का निरूपण किया है। परन्तु 'रस-सिद्धान्त को ऐतिहासिक संशोधन के एक विषय के रूप में देखना चाहिए' इस आधार पर वे रस-सिद्धान्त को त्याज्य ठहराते हैं। परन्तु उनकी यह स्थापना एक विशिष्ट दार्शनिक चिन्तन से उद्भूत है, अतः इसका प्रत्याख्यान करने के लिए दर्शन क्षेत्र में प्रवेश करना आवश्यक हो जाता है। मैं उनकी इस स्थापना से असहमत हूँ, इतना ही कहकर आगे बढ़ता हूँ।

श्री मर्ढेकर की रस-मीमांसा

श्री बेडेकर के समान ही श्री मर्ढेकर भी साहित्यशास्त्र के महान् अधिकारी हैं। इतना ही नहीं कला और साहित्य के विषय में इनकी निजी एक मीमांसा है। इनका दृष्टिकोण यथार्थवादी है। इसके अतिरिक्त मराठी का साहित्यशास्त्र और संस्कृत या अँग्रेज़ी का साहित्यशास्त्र भिन्न-भिन्न होना चाहिए, ऐसी भी उनकी स्थापना नहीं है। इस कारण रस-सिद्धांत विषयक उनके मत का पर्याप्त महत्त्व है।

रस-सिद्धान्त के विषय में श्री मर्ढेकर का मत इस प्रकार है: 'संस्कृत साहित्य-शास्त्र की रस-व्यवस्था ने वाङ्मय की चर्चा में शास्त्रीयता लाने का प्रयत्न तो अपने यहाँ किया······रस-सिद्धांत का

मुख्य आधार स्थायीभावों की कल्पना पर ही है। यदि स्थायीभावों की कल्पना हमें साहित्य या कला की मीमांसा में ग्राह्य प्रतीत हुई तो शेष प्रश्न कठिन प्रतीत नहीं होंगे।' परन्तु श्री मर्ढेकर को स्थायीभावों की कल्पना में कठिनाई प्रतीत होती है। भरत ने केवल आठ स्थायीभावों का ही निरूपण किया है। प्रश्न यह है कि यह संख्या कैसे सुनिश्चित की जाय? परन्तु इस प्रश्न को छोड़ भी दिया जाय तो मुख्य प्रश्न आता है कि इन स्थायीभावों में किसका मत अभिप्रेत है? भरतमुनि का आधार लेकर श्री मर्ढेकर कहते हैं कि भरतमुनि का आशय प्रेक्षक के मन से है—'स्थायिभावान् आस्वादयन्ति प्रेक्षकाः।'[१] 'यदि उपर्युक्त मत सही है तो सौन्दर्य का अस्तित्व और सौन्दर्य का ज्ञान इनमें अव्यवस्था उत्पन्न होगी। और सौन्दर्य का अस्तित्व सदैव उसके ज्ञान पर अवलंबित होता है यह स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु किसी भी साहित्यिक रचना का सौन्दर्य यदि इस प्रकार से निरपवाद रूप से सहृदय पर अवलम्बित रहेगा तो उस सौन्दर्य का स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व नहीं रहेगा। परन्तु यदि किसी भी सहृदय ने आस्वाद नहीं लिया तो भी वृक्ष पर का आम जैसे स्वादिष्ट रह सकता है वैसे ही किसी भी पाठक या प्रेक्षक ने आस्वाद नहीं लिया तो भी कोई साहित्यिक रचना सुन्दर क्यों न होगी? उदाहरणार्थ, कोई लेखक अपनी साहित्यिक रचना पूर्ण करते ही दिवंगत हो जाता है और उसकी रचना २५ वर्ष तक अज्ञातावस्था में रहती है। तदुपरान्त वह सहृदय समालोचक के समक्ष आती है और वह उसे बहुत उत्कृष्ट रचना के रूप में सिद्ध करता है। ऐसी स्थिति में इन पच्चीस वर्षों की अज्ञातावस्था में उस साहित्यिक रचना के सौन्दर्य के अस्तित्व को नहीं माना जाएगा क्या?'[२] मुझे लगता है कि श्री मर्ढेकर यहाँ दो भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर रहे हैं। एक तो इस स्थल पर सौन्दर्य का ज्ञान और सौन्दर्य का अस्तित्व इन प्रश्नों पर विचार करना अप्रासंगिक

---

१. यह भरत के प्रति अन्याय करना है। रस-निर्मिति की प्रक्रिया और रसास्वादन की प्रक्रिया ये दो भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएं हैं। रस-निर्मिति की प्रक्रिया में भरत के लिए कवि के मन का भाव अभिप्रेत है। 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते' इस कारिका के पदों से स्पष्ट है।

२. सौन्दर्य आणि साहित्य, पृ० ७९-८०

है। सौन्दर्यवाचक विधान और अस्तित्ववाचक विधान में प्रथमतः भेद की कल्पना करके श्री मर्ढेकर ने यहाँ भी वही अव्यवस्था उत्पन्न की है। सौन्दर्यवाचक विधान का उद्देश्य सदैव अस्तित्ववाचक ही होता है। इस तथ्य को इस स्थल पर श्री मर्ढेकर ने भुला दिया है। उन्हें कूड़े में पड़े हुए रत्न की ईसप नीतिगत कथा स्मरण कर लेनी चाहिए। श्री मर्ढेकर लिखते हैं कि इन पच्चीस वर्षों की अज्ञातावस्था में उस रचना के सौंदर्य का अस्तित्व ही नहीं था, ऐसा माना जाय क्या? समझ लीजिए ऐसा मान भी लिया जाय तो क्या बिगड़ जाएगा? श्री मर्ढेकर को इस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक होगा। परन्तु सौन्दर्य के अस्तित्व के विषय में जब हम चर्चा करते हैं तब वह एक ही व्यक्ति के अनुभव पर अधिष्ठित रहता है, इस प्रकार के कथन का हमारा प्रयोजन नहीं रहता। श्री मर्ढेकर उस तत्त्व से अवगत हैं परन्तु वे इस स्थल पर इसे भूल गए हैं। 'अज्ञातावस्था में रचना के सौन्दर्य का अस्तित्व नहीं था।' और 'अज्ञातावस्था में रचना का अस्तित्व नहीं था' ये दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार के विधान हैं। रचनागत सौन्दर्य और रचना ये दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। यदि सौन्दर्य सचमुच अस्तित्ववाचक न हो तो रचनागत सौन्दर्य के अस्तित्व का प्रश्न कहाँ उद्भूत होता है? इसके विपरीत 'सौन्दर्य' शब्द यदि सुन्दर वस्तुवाचक है तो उस वस्तु का सुन्दर रूप में ज्ञान न होने पर भी वस्तु के अस्तित्व होने में क्या रुकावट है? 'यह वस्तु सुन्दर है' इस कथन का सौन्दर्यवाचक विधान तभी हो सकता है जब इस प्रकार का विधान करने वाला मनुष्य प्रत्यक्ष रूप में उस वस्तु का अनुभव कर रहा हो। इसके विपरीत यदि वह दूसरों के अनुभव के आधार पर 'यह वस्तु सुन्दर है' ऐसा कहता है तो उसे सचमुच में 'यह वस्तु सुन्दर है' ऐसा नहीं कहना है वरन् 'यह वस्तु है' इतना ही उसके कथन का अभिप्राय होता है। और वस्तु सुन्दर है यह तो उसका तर्क होता है इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है। श्री मर्ढेकर की यहाँ दूसरी भूल और मज़ेदार है। स्थायीभावों का यदि प्रेक्षकों ने आस्वाद लिया तो इसमें क्या बिगड़ा? इसमें सौन्दर्य का अस्तित्व और सौन्दर्य का ज्ञान इससे सम्बद्ध प्रश्न कैसे उत्पन्न होते हैं? अन्य अनेक समालोचकों के समान श्री मर्ढेकर ने भी भरत को अभिप्रेत दो प्रक्रियाओं—

रस-निर्मिति और रसास्वाद—को मिलाने की गलती की है। श्री मर्ढेकर की कलामीमांसा में भी कला-स्वाद लेना आवश्यक हुआ तो इसके लिए प्रेक्षक की आवश्यकता होगी ही। परन्तु श्री मर्ढेकर ने इसके आगे एक और मज़ेदार बात की है। भरतमुनि का सूत्र श्री मर्ढेकर ने अधूरा ही पढ़ा प्रतीत होता है। किसी भी स्थायीभाव का प्रेक्षक आस्वाद लेते हैं यह सही नहीं है वरन् 'वागंग सत्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति प्रेक्षकाः' इस प्रकार का भरतमुनि का वाक्य है। इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार है कि जो स्थायीभाव (कवि मनोगत) वस्तुगत होते हैं वे अपना मूल रूप अर्थात् मानसिक रूप छोड़कर वागंग सत्वोपेत हो जाते हैं (विशेषतः नाटक में)। इससे अभिप्राय यह निकला कि वाणी, अभिनय, शारीरिक संवेदना इत्यादि में रूपान्तरित होते हैं, अर्थात् रस बन जाते हैं। इन स्थायीभावों का अर्थात् वस्तुगत हुई बातों का प्रेक्षक आस्वाद लेता है। इस प्रकार के विधान पर श्री मर्ढेकर क्यों आक्षेप करते हैं? वस्तुतः श्री मर्ढेकर द्वारा अन्यत्र प्रतिपादित सिद्धान्त और प्रस्तुत सिद्धान्त एक ही हैं। केवल समझने में गड़बड़ हो गई है। क्योंकि श्री मर्ढेकर ने जहाँ से भरत का उपर्युक्त वाक्य उद्धृत किया है उससे थोड़े ऊपर ही भरतमुनि ने रस-निष्पत्ति-प्रक्रिया का वर्णन करते हुए लिखा है: 'तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावाः रसत्वम् आप्नुवन्ति।' अर्थात् इस स्थल के स्थायीभाव आस्वादक के मनस्थ नहीं हैं, वरन् कलाकार के मनस्थ हैं। वस्तुतः अपने आशय की पुष्टि में श्री मर्ढेकर भरतमुनि की सहायता ले सकते थे। परन्तु भरत का कथन समझ में न आ सकने के कारण कहिए अथवा भरत के कथन के विषय में अन्य मीमांसकों पर आवश्यकता से अधिक विश्वास रखने के कारण कहिए, श्री मर्ढेकर भरतमुनि से द्वन्द्व करने के लिए उद्यत हो गए हैं।

श्री मर्ढेकर ने लिखा है: 'किसी भी साहित्यिक रचना के आस्वाद में भावनाओं के दो घटक या संगठित रूप अस्तित्व में लिए जा सकते हैं। इनमें प्रथम घटक का सम्बन्ध साहित्यिक रचनागत पात्रों तथा चित्रित पात्रों की भावनाओं से है। दूसरा घटक आस्वादक की भावनाओं का है जो उस साहित्यिक रचना का आस्वाद लेता है। भावनाओं के इन दो घटकों की छानबीन करने से ऐसा स्पष्ट होगा कि स्थायीभावों की कल्पना

पर आधृत रस-व्यवस्था में एकसूत्रता नहीं है।'[१] श्री मर्ढेकर ने इस स्थल पर भावनाओं के दो घटकों की कल्पना की है। इनमें जिसे मर्ढेकर प्रथम घटक कहते हैं वह नाट्यधर्मी है। अर्थात् इस घटक का साधन रूप में ही उपयोग किया जाता है। भावनाओं के वास्तविक दो ही घटक होते हैं।[२] परन्तु श्री मर्ढेकर जिन दो घटकों को मानते हैं वे दो घटक नहीं होते। प्रथम भावनाओं का घटक कवि के मन में उत्पन्न होता है और दूसरा भावनाओं का घटक आस्वादक के मन में उत्पन्न होता है। किसी प्रसंग को देखकर अथवा उसकी कल्पना करने से कवि के मन में[3] जो भावनाओं का घटक उत्पन्न होता है उसे काव्य नाटकों में बिठाकर उसके द्वारा आस्वादक के मन में भी कवि अपने सदृश ही दूसरा घटक भावनाओं का निर्माण करता रहता है।

इन दो घटकों में एक समतानता (Equivalence) होती है। दुष्यन्त और शकुन्तला के नाटकगत शृंगार के कारण प्रेक्षकों में प्रणय भावनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं, इस प्रकार की भावना उत्पन्न होनी भी नहीं चाहिए, यदि ऐसी भावनाएँ उत्पन्न होती हैं तो नाटक को सफल नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः पात्रों के मुख से शृंगार की अभिव्यक्ति कराते समय कवि के मन की जो स्थिति होती है उसी प्रकार की प्रेक्षकों की मनःस्थिति कर देना ही काव्य-नाटकों का प्रयोजन होता है। कवि मनोगत जो 'रति' भावना है वही रंगमंच पर शृंगार का रूप धारण कर लेती है और पुनः प्रेक्षकों के मन में रति उत्पन्न करती है। 'रति' का अर्थ शृंगार की चेष्टाएँ नहीं होता। काव्य-नाट्य का निर्माता भी एक प्रकार से प्रेक्षक ही होता है और इसी कारण निर्माता और प्रेक्षक में एक प्रकार की समान्तर मनोवृत्ति-समतानता उत्पन्न होती है। रंगमंच पर दिखाई देने वाले भाव वास्तव में महत्त्वपूर्ण नहीं होते। पात्र अपनी भूमिका से एक रूप होने का केवल प्रदर्शन करते रहते हैं। वे

---

१. सौन्दर्य आणि साहित्य, पृ० ८०।

२. नट को अभिनय कला का निर्माता मानने से उसके अभिनय के पीछे भावनाओं का एक और घटक होता है और वह भी उपर्युक्त दो घटकों के समांतर और तत्सदृश होता है। परन्तु अन्य कलाओं में ऐसी स्थिति नहीं रहती।

३. भरत के मत में कवि मनोगत भावनाओं का घटक न होता तो वे 'कवेरन्तर्गतं भावम्' इस प्रकार का शब्द प्रयोग ही नहीं करते।

वास्तव में एक रूप नहीं होते। यदि एक रूप हो जाएँ तो नाटक का नाट्यत्व ही समाप्त-सा हो जाएगा। इसी कारण हास्यरस को उत्पन्न करने वाला नट स्वतः हँसता नहीं, वरन् दूसरों को हँसाता है।

श्री मर्ढेकर द्वारा की गई रस-व्यवस्था की आलोचना इसी प्रकार की है। रस-सिद्धान्त का पारम्परिक अर्थ ग्रहण करने के कारण ही उन्होंने इस प्रकार की आलोचना कर दी है। मेरे विचार में वास्तविक रस-सिद्धान्त उनकी मान्यता से पर्याप्त मिलता-जुलता है।

कविता का विश्लेषण

फिर वास्तविक रस-सिद्धान्त कौन-सा है? भरत को रस शब्द से क्या अभिप्रेत था? परन्तु इसे जानने से पहले काव्य को किन घटकों की आवश्यकता है? इन घटकों का संवेदन हमें कब और कैसे होता है? किसी नाट्य-काव्य को देखने या पढ़ने के उपरान्त हमें जो भिन्न-भिन्न संवेदनाएँ होती हैं उनमें आवश्यक कौन-सी हैं और आगन्तुक कौन-सी हैं। इन बातों पर विचार करना आवश्यक है। इसके लिए परम्परागत काव्य-परीक्षण के पुराने जाल में फँसकर खोज करने की अपेक्षा कविता का एक पदांश लेकर उसका विश्लेषण किया जाय और इससे काव्य के भिन्न-भिन्न घटकों का विश्लेषण करके इसमें रस का स्थान कहाँ है यह निश्चित किया जा सकेगा। इसके लिए मैंने मराठवाडा के एक उदयोन्मुख कवि श्री हेमचन्द्र धर्माधिकारी की निम्न पंक्तियाँ चुनी हैं—

शुक्ल पक्ष में उस चौराहे के
मंजिल की वह नग्न पूर्णिमा,
अनेक दिलों को टूक-टूक कर
धीरे पहुँची शय्या पर वह
ज्योंही देखा उसने मुड़कर
छलक उठा यह सागर चंचल
तड़प-तड़पकर लगा लोटने
कभी इधर तो कभी उधर।[1]

१· शुक्ला मधल्या त्या चौकाच्या

इन पंक्तियों का पाठक पर किस प्रकार का प्रभाव पड़ता है, यह देखना बहुत मनोरंजक और अपने प्रश्न की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। इस कविता की पंक्तियाँ क्या हैं ? यह तो हाथ से लिखी गई अक्षरों की आकृति मात्र है। और इनका एक के उपरान्त एक छः प्रकार का प्रभाव पड़ता दिखाई देता है।

१—शब्दों की संवेदना।

२—शब्दों से संलग्न प्रतिमाओं का प्रत्यय।

३—शब्दों से स्वतन्त्र किसी प्रतिमा की कल्पना।

४—विषय का संस्मरण—आलोचन।

५—भावना (Emotion)।

६—भावक्रियात्मक अवस्था।

१—शब्दों के देखने के उपरान्त संवेदना पर ही अगला समस्त ज्ञान अवलम्बित होता है। परन्तु इसी कारण कोई शब्दाकृतियों को ही महत्त्व नहीं देता। अक्षरों का आकार, उनकी घड़न, उनका सौन्दर्य आदि का हमारे मन पर प्रभाव पड़ता है, परन्तु यह बहुत ही अल्प मात्रा में होता है। अस्पष्ट और अस्वच्छ अक्षरों में लिखी गई कविता को समझने में कठिनाई आएगी अथवा इतना ही होगा कि कोई पाठक उसे पढ़ेगा नहीं। परन्तु अस्वच्छ अक्षर अथवा अस्वच्छ छपाई किसी अच्छी कविता के अंश नहीं हो सकते। वे मुद्रण कला की कसौटी हो सकते हैं।

२—जब हमें शब्दों की संवेदना होती है तो संवेदना की मानसिक प्रक्रिया वहीं विराम को नहीं प्राप्त करती। वरन् उसके साथ संवेदनाओं से सम्बद्ध प्रतिमा भी हमारे मन में उद्भूत होती है। परन्तु यह प्रतिमा भी स्पष्ट रूप से हमारे मन में उद्भूत ही हो यह आवश्यक नहीं है।

माडीवरची नग्न पौर्णिमा
हळूच आली सज्जा वरती
कैक दिलाचा करीत खीमा
पाठमोर ती वळून वधता
उधानलाहा छछोर सागर
हाय खाउनी लोळु लागला
या अंगाहुन त्या अंगावर

और यह प्रतिमा जितने स्पष्ट रूप से हमारे मन में उठेगी उतने ही प्रमाण में उस काव्य की उत्कृष्टता भी सिद्ध नहीं की जा सकेगी। काव्य-गायन के कारण काव्य मधुर लगता है। इसका कारण शब्दों से सम्बद्ध ध्वनि-प्रतिमाएँ होती हैं, यह पृथक् से बताना आवश्यक नहीं है। परन्तु काव्य-गायन उत्तम प्रकार का होने मात्र से काव्य की उत्तमता नहीं ठहरायी जा सकती।

३—शब्दों से स्वतन्त्र पृथक् अस्तित्व रखने वाली प्रतिमाओं का भी हमें ज्ञान होता रहता है। कविता की कोई भी पंक्ति पढ़ते ही प्रस्तुत तथ्य की प्रतीति होगी। परन्तु इस प्रकार से उत्पन्न होने वाली प्रतिमाएँ भी मनुष्यानुरूप बदलती रहती हैं, यह बताने की विशेष आवश्यकता नहीं है। इसी कारण इस प्रकार की प्रतिमाएँ काव्य मूल्यांकन की निकष ठहरायी नहीं जा सकतीं। उदाहरणार्थ कालरिज की 'एन्शेन्ट मरिनर' की निम्न पंक्ति देखिए—'Painted ship on a painted Ocean' यदि इस पंक्ति को पढ़ने के उपरांत एक चित्रगत जलयान का चित्र ही हमारी आँखों के सामने उपस्थित हो तो इससे कवितागत काव्य समझने में हमें क्या मदद होगी ?

विषय

४—तद्यपि शब्दों के दर्शन-संवेदन से भिन्न-भिन्न प्रतिमाएँ उत्पन्न होती हैं तथापि सामान्यतः इस प्रकार की प्रतिमाएँ शब्दों से सम्बद्ध—संलग्न प्रतिमाओं से ही उत्पन्न होती हैं। और शब्दों के संवेदनों से जब हम विषय की ओर अग्रसर होते हैं तो हमारे मन में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रेरणाएं तथा भाव-विकार उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार एक यन्त्र से कपड़ा बुना जाता है उसी प्रकार से इन प्रेरणाओं (Impulse) से शब्दों का विषय निश्चित होता जाता है। इन भाव-विकारों की दिशा-शक्ति उनका एक दूसरे पर पड़ने वाला प्रभाव ही किसी भी प्रकार के अनुभव में और विशेषतः काव्य के अनुभव में बहुत महत्त्व का होता है। और इस प्रकार के भाव-विकारों से ही भावनात्मक प्रभाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार से कागज पर उतारे गये छोटे-मोटे और टेढ़े-मेढ़े चिह्न अद्भुत मानसिक प्रभाव उत्पन्न करने में रूपान्तरित होते हैं। इसे ही

काव्य का अर्थ कहा जाता है। कागज पर किसी शब्द को देखते ही अपने मन में कतिपय विचार उत्पन्न होते हैं। परन्तु वे विचार इस शब्द के विषय में नहीं उठते वरन् उस शब्द को जिस वस्तु के चिह्न रूप में हम प्रयुक्त करते हैं उस वस्तु के विषय में होते हैं। कविता विषयक विचार करते समय प्रथम इस प्रकार का ही कोई वाच्यार्थ हमारे सामने आता है। परन्तु अन्य प्रकार के विचार अथवा व्यंजनाएं हमारे मन में उत्पन्न ही न होंगी, यह समझना भूल होगी।

५—वस्तु का ज्ञान जिस क्षण होता है उसी क्षण ज्ञान के अनुषंग से ज्ञाता के मन में कतिपय भावनाएं उत्पन्न होने लगती हैं। काव्य का विषय भावनात्मक दृष्टिकोण से उत्पन्न होता है। फलतः काव्य की पंक्ति में इस प्रकार की भावना-निर्माण करने की सामर्थ्य होगी तभी वह 'कविता' कहलायेगी, अन्यथा नहीं। इस प्रकार की भावनाएं किसी भी वस्तु के बिना उत्पन्न नहीं होतीं और इसके लिए वस्तु और ज्ञाता इनका 'एकचित्त' होना आवश्यक है। इसी भावना से मैं सौन्दर्य की कल्पना करता हूँ। इस प्रकार की भावना ज्ञाता-अवलम्बी होने पर भी ज्ञेय की उपस्थिति के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी स्थल पर अच्छी या बुरी, सुन्दर या असुन्दर की प्रतीति होती है।

६—इस भावना की अनुभूति के साथ ही साथ पूर्णरूप से ज्ञाता-अवलम्बी एक प्रकार के आनन्द अथवा दुःख अथवा उदासीनत्व की प्रतीति भी आती है और यह प्रतीति अपेक्षित अनुभव और प्राप्त अनुभव पर अवलम्बित होती है।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे भाषण का आशय समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि शब्दजन्य छः प्रकार के परिणाम एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। परन्तु उनमें से पाँचवाँ और छठा परिणाम ही अधिक महत्त्व का है। १, २, ३ तो केवल ४ और ५ को सहायता पहुंचाते हैं और छठा परिणाम तो केवल आनुषंगिक निर्मिति (By product) के रूप में ही हमारे सामने आता है। चौथे और पाँचवें को हटाकर केवल छठे परिणाम के लिए न तो कोई लिखता है और न कोई पढ़ता ही है। इस स्थल पर यह विचार करना भी आवश्यक है कि हम सामान्य भाषा में प्रयुक्त आनन्द अथवा सुख शब्दों से जिस अनुभव को

सूचित करते हैं वही मनुष्य का 'इतिकर्तव्य' है क्या ? आनन्द का अनुभव आने के लिए आनन्द का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए आनन्द को यदि मनुष्य का ध्येय माना जाय तो भी आनन्द के ज्ञान का अनुभव और आनन्द का विषय इस ध्येय से पृथक् नहीं रह सकेगा।

इसी कारण मुझे आनन्द की अपेक्षा विषय और तदनुषंग से उत्पन्न भावनात्मक प्रभाव ही कविता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण लगते हैं। इस कथन को अधिक स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त कविता पुनः यहाँ उद्धृत की जाती है—

शुक्ल पक्ष में उस चौराहे के
मंजिल की वह नग्न पूर्णिमा
अनेक दिलों को टूक-टूक कर
धीरे पहुंची शय्या पर वह
ज्योंही देखा उसने मुड़ कर
छलक उठा यह सागर चंचल
तड़प तड़प कर लगा लोटने
कभी इधर तो कभी उधर।

इन शब्दों को पढ़ने के उपरान्त हमें एक प्रकार का शब्द-ज्ञान होता है। यह शब्द-ज्ञान महत्त्वपूर्ण होने पर भी यह ज्ञान अपना वर्ण्य विषय नहीं है। इसी प्रकार उन शब्दों का पृथक्-पृथक् रूप में होने वाला अर्थ और अपनी आँखों के सामने उपस्थित होने वाली प्रतिमाएं भी हमारी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उसी प्रकार इन प्रतिमाओं से हमारे अनुभव में संलग्न अन्य प्रतिमाएं भी हमारे मन में उत्पन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, शुक्ल शब्द सुनते ही मेरे मन में मध्यप्रान्त के मुख्यमन्त्री शुक्ल जी की मूर्ति उपस्थित होती है। अथवा उनके साथ-साथ मिश्र जी की मूर्ति उपस्थित होती है परन्तु कवि धर्माधिकारी की उपर्युक्त पंक्ति समझने के लिए शुक्ल और मिश्र की प्रतिमाएं आँखों के सामने आ ही जाती हैं। परन्तु इस कविता का आकलन तो हमें उसी प्रतिमा से होता है जो भिन्न-भिन्न शब्दों की एक विशिष्ट संदर्भ में सभी प्रकार की प्रतिमाओं के मिलन से निर्मित होती है। और उपमा द्वारा ही स्पष्टीकरण चाहें तो कह सकते हैं कि शब्द और शब्द-रचना निर्मित कृति इस

प्रतिमा का एक 'फोटोफ्रेम' है। परन्तु केवल उत्पन्न की गई प्रतिमा से भी हमें काव्यानुभूति नहीं होती। 'ज्योंही देखा उसने मुड़कर, छलक उठा यह सागर चंचल' इस पंक्ति से पीठ की हुई किसी 'स्त्री के पीछे मुँह मोड़कर देखने से कोई कामासक्त पुरुष बेचैन होकर उलट-पुलट हो रहा है' इस प्रकार की यदि प्रतिमा आँखों के सामने उपस्थित हो तो इससे हमें काव्यास्वाद नहीं प्राप्त हो सकेगा।

अतः इस प्रतिमा का सागर से, उसकी तरंगों से और इन दोनों का चन्द्रमा से जो नाता है वह स्पष्ट होना चाहिए। सन्दर्भ और प्रतिमा इन दोनों के इस नाते में ही या तो सौन्दर्य-ज्ञान होता है अथवा हमारे मन में कतिपय भाव, स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं। इस सौन्दर्य-ज्ञान अथवा स्थायीभाव की कविता-निर्माण के क्षणों में कवि के मन में भी उत्पत्ति आवश्यक है और इसी कारण कवि की भूमिका स्पष्ट रूप से प्रतीत होने के लिए यह आवश्यक है कि इसी प्रकार के भाव पाठक के मन में भी उत्पन्न हों। इस सम्बन्ध की जब हमें स्पष्ट रूप में प्रतीति होती है तभी हम किसी कविता को काव्य की संज्ञा देते हैं। यदि सर्व-साधारण पाठक और श्रोताओं को इसी प्रकार की प्रतीति हो रही हो और एक-आध पाठक को इस प्रकार की प्रतीति न होती हो तो हम उसे अरसिक कहने लगते हैं। परन्तु जिस प्रस्तुत काव्यार्थ का मैंने निरूपण किया है, उसे काव्यार्थ रूप में उत्पन्न होने के लिए और उसके काव्यार्थ रूप में ज्ञान होने के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी न किसी माध्यम में स्थित हो। वह कभी तो शब्दों की रचना में रहेगा, कभी विभावादि से युक्त अभिनय में रहेगा तो कभी-कभी ध्वनि और रूपलहरी बनकर सिनेमा की फिल्म में रहेगा। संक्षेप में कहें तो वह 'वागंगसत्वोपेत' रहेगा। कला के लिए इस 'वागंगसत्वोपेतत्व' की आनन्द की अपेक्षा बहुत अधिक आवश्यकता है। मेरे विचार में इस प्रकार के वागंगसत्वोपेत स्थायी-भावों को ही भरतमुनि ने रस माना है। सहृदयों की प्रतीति के लिए स्थायीभावों का किसी न किसी माध्यम में रहना आवश्यक है। इसके बिना सहृदयों के मन में स्थायीभाव कैसे उत्पन्न होंगे ? अर्थात् काव्य का अर्थ-विषय सहृदयों को किस प्रकार से प्रतीत होगा ? इसीलिए भरत-मुनि ने कहा है "नहि रसादृते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्तते" अर्थात् रस के

बिना कोई भी अर्थ काव्यार्थ काव्य विषय प्रतीत नहीं हो सकता। वेदान्त की परिभाषा को भरतमुनि के माथे पर मढ़ना और रस तथा आनन्द को एक रूप करना मानो काल को उलटा चलाना (Anachronism) होगा। भरतमुनि के समय 'रस' शब्द को आत्मपद अथवा ब्रह्मपद प्राप्त नहीं हुआ था। इस प्रकार का पद भट्टनायक से लेकर आगे विश्वनाथ तक के आचार्यों ने दिया है। इसी कारण 'हर्षादीन् च अधिगच्छन्ति' इस वाक्यगत 'च' का 'और' रूप में अर्थ करना ही मेरे विचार में आवश्यक है। काव्याध्ययन के कारण सहृदय के मन में उत्पन्न भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का विश्लेषण करना अर्थात् कविता का या नाटक का विश्लेषण करना भरत को अभिप्रेत था। इसलिए उन्होंने रस, आस्वाद, आनन्द इन रूपों में जो कविता का विश्लेषण किया है वह मेरे विचार में उचित ही है। अर्वाचीन विज्ञानशास्त्र के आधार पर भी काव्य-विषय, आस्वाद और आनन्द भिन्न-भिन्न सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार वस्तु का ज्ञान होने के लिए ज्ञान जिस पर आधृत है, उस वस्तु का होना आवश्यक है, इसी प्रकार काव्यार्थ का भी किसी न किसी वस्तु से 'उपेत' होना आवश्यक है। इस वस्तु को ही रस की संज्ञा देना अभीष्ट है।

वेदान्तियों का आक्षेप

अनेक वेदान्ती मीमांसक प्रश्न करते हैं कि काव्य के अर्थ अथवा विषय की अपने मन से बाहर स्थिति मानने की आवश्यकता ही क्या है? इसकी पुष्टि में 'मुझे क्या हुआ यह मुझे ही प्रतीत नहीं होता' इस प्रकार के वाक्य वे प्रस्तुत करते हैं। इस वाक्य में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान ये तीनों बातें 'मैं' में ही समाविष्ट हो गई हैं। उनके मत में रस की स्थिति भी ऐसी ही हो गई है। अतः कविता की एक पंक्ति पढ़ते ही छः प्रकार की संवेदनाएं होती हैं, यह जो मेरा मत है उसे वे भ्रामक मानते हैं। और जिस पद्धति से मैंने कविता का विश्लेषण किया है उस पद्धति से विश्लेषण करना उन्हें आवश्यक प्रतीत नहीं होता। यदि सब कुछ 'मैं' ही हूं तो भावना, आनन्द अथवा काव्य-प्रतिमा की पृथक् स्थिति कैसे मानी जाएगी? इस प्रकार से 'रस' आनन्द स्वरूप है या 'मैं स्वरूप है'

निश्चित किया जाता है। परन्तु शास्त्रीय विश्लेषण की पद्धति को वेदान्त की प्रक्रिया मान्य नहीं है। किसी वस्तु के विश्लेषण का तात्पर्य होता है उसको विभक्त करना और उसके प्रत्येक अवयव को पृथक्-पृथक् करके एक-एक घटक का परीक्षण करना। किसी भी ज्ञान की वृद्धि इसी प्रकार से होती है। रस के भी हम नौ अथवा अधिक भेद करते हैं। उसका कारण भी यही है। इसी कारण शास्त्रीय ज्ञानकक्ष में वेदान्त को वास्तविक स्थान प्राप्त नहीं है, क्योंकि इसमें उद्देश्य और विधेय की अद्वैत कल्पना की गई है। रस और भाव का पार्थक्य दिखाने की अपेक्षा वेदान्त की ढाल को आगे किया जाता है और रस, भाव, आनन्द इत्यादि वस्तुएं एक रूप ही हैं ऐसा कहा जाता है, वस्तुतः यह वैचारिक भ्रान्ति है।

भरतमुनि को क्या अभिप्रेत था ?

उपर्युक्त कविता के विश्लेषण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि काव्यार्थ—कवि मनोगत भावनाओं का विषय—किसी न किसी माध्यम में साकार हो यह काव्य के लिए आवश्यक है। परन्तु यह किस आधार पर कहा जायेगा कि भरतमुनि का रस से तात्पर्य इसी बात से था ? यह किस आधार पर कहा जायेगा कि भरतमुनि को रस शब्द से आनन्द अर्थ अभिप्रेत नहीं था ? इसके लिए हमें रस शब्द का नाट्यशास्त्र में और समकालीन इतर शास्त्रों में जो प्रयोग हुआ है उस पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। रस का सरल अर्थ है—तरल पदार्थ या द्रव पदार्थ। परन्तु भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में जो रस शब्द प्रयुक्त किया है वह आयुर्वेद से ग्रहण किया गया है और आयुर्वेद में यह दर्शनशास्त्र से आया है। तब प्रश्न उठता है कि क्या सांख्यदर्शन में रस शब्द आनन्दवाचक है ? यदि ऐसा नहीं तो वह किस अर्थ का वाचक है ? इस पर विचार करना आवश्यक है। परन्तु इस विषय में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि सांख्यशास्त्र पर सांख्यशास्त्रियों द्वारा लिखित एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। गौड़पाद, वाचस्पति मिश्र और विज्ञान भिक्षु ने जो टीकाएँ लिखी हैं वे सब वेदान्ती दृष्टिकोण से लिखी गई हैं। और वर्तमान सांख्यशास्त्र वेदान्त का ही लगभग भाग बन गया है। ऐसी स्थिति में भी आज के सांख्यशास्त्र में रस शब्द का अर्थ आस्वाद अथवा आनन्द इनमें से एक

भी नहीं है। सांख्यशास्त्र में रस[1] शब्द द्रव्यवाचक—तन्मात्रवाचक है। तन्मात्र को महाभूत का सूक्ष्म रूप समझा जाता है। परन्तु थोड़ा सा विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि तन्मात्र और महाभूत का सम्बन्ध ज्ञेय और ज्ञान जैसा है। तत् माने वस्तु और तन्मात्र माने केवल वस्तु ही। इस वस्तु की तर्क से कल्पना की जाती है। परन्तु वह जब ज्ञान का विषय बन जायेगी तब वह तन्मात्र नहीं रहेगी वरन् महाभूत बन जायेगी। कांट की शब्दावली में कहा जाय तो तन्मात्र 'Thing in itself' और जब वह ज्ञानकक्ष में आती है तब वह 'Forms of space and time का और Categories of Understanding का आवरण लेकर आती है। 'महत्' और अहंकार का आवरण ग्रहण करने के कारण ही तन्मात्राएं हमें महाभूतात्मक दिखाई देती हैं। काव्यगत रस का भी हमें उपमानों से इसी प्रकार स्पष्टीकरण करना चाहिए। काव्यगत रस यह पूर्ण वस्तुमात्र है। जब यह प्रतीत होता है अथवा आस्वादित होता है, तब भावनात्मक होता है और इस भावना का पर्यवसान होगा आनन्द में। 'नहि रसादृते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्तते' इत्यादि कारिकाएं भी इसी आशय को सूचित करती हैं। काव्यस्वरूप के सिद्धान्त पर भी यही तथ्य लागू होता है। परन्तु रस शब्द का मूलभूत अर्थ

१. न्याय वैशेषिकों के सात पदार्थों में 'रस' शब्द गुणवाचक है। इस कारण रस शब्द को द्रव्यवाचक कैसे माना जाए यह प्रश्न यहां उपस्थित होना सम्भव है। परन्तु सांख्य के समय गुण शब्द न्यायवैशेषिकों के अर्थानुसार गुणवाचक नहीं था यह ध्यान देना आवश्यक है। सांख्य के गुण केवल तीन हैं—सत्व, रजस् और तमस्, परन्तु ये तीन गुण अर्थात् प्रकृति के विशेषण नहीं हैं वरन् तीन गुणों का अर्थ तो प्रकृति है। द्रव्य और गुण (Substance and quality) इन जातियों का विश्लेषण करना सांख्य को अभिप्रेत नहीं था। न्याय के समय द्रव्य और गुण इस प्रकार का भेद किया गया और इनमें एक 'समवाय संबंध' की कल्पना की गई तो बौद्ध दर्शन में 'संघात' की कल्पना आई इससे द्रव्य को पूर्णतः पृथक् किया गया। कुछ भी हो सत्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण ही सांख्य में अभिप्रेत थे और तन्मात्र गुण का प्रकार नहीं वरन् प्रकृति का ही विकार विशेष था। ईश्वरकृष्ण की निम्न कारिका से यह बातें स्पष्ट होती हैं—

मूल प्रकृति रविकृतिः महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकाराः न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

आनन्द नहीं है फिर भी समस्त सृष्टि को आनन्दस्वरूप देखने वाले ब्रह्म-वेत्ताओं को काव्यगत रस भी आनन्दस्वरूप भासित हुआ। इस प्रकार समस्त जगत् के भ्रम को दूर करने के लिए अग्रसर हुए वेदान्ती स्वयं ही रस के विषय में भ्रम निर्माण कर गये। संदर्भ से पृथक् करके भरत की कारिकाओं पर वेदान्तियों ने विचार किया और अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने कतिपय वाक्य नाट्यशास्त्र से ग्रहण किये। इस प्रकार से रस-सिद्धान्त का आनन्द-सिद्धान्त के रूप में समीकरण हुआ। समस्त प्राचीन काव्य का परिपाक सामान्य रूप से आनन्द में ही होता गया परिणामतः प्रस्तुत विचारसरणीगत दोष किसी की भी दृष्टि में नहीं आ सका और आनन्द-सिद्धान्त काव्य में स्थिर हो गया।

एक अन्य वेदान्ती मीमांसा

इस विषय में नाट्यशास्त्रगत अवतरण अत्यन्त स्पष्ट है। अद्वैत वेदान्त पर विश्वास रखने वाले तथा रस को आस्वाद स्वरूप मानने वाले अनेक रस मीमांसक पंडितों को भी प्रस्तुत परिच्छेद के अर्थ के विषय में जटिलता उपस्थित हुई है।[१] नांदेड़ के विद्वान् दर्शनशास्त्रज्ञ और रस मीमांसक पं० यज्ञेश्वर शास्त्री कस्तुरे के मन में भी इस परिच्छेद ने सन्देह उत्पन्न कर दिया है। इन्होंने पूर्वपक्ष के रूप में ही क्यों न हो इस प्रकार से अपना सन्देह प्रकट किया है।[२] 'इसके अतिरिक्त 'आस्वादयन्ति हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति' इस उक्ति से रसास्वाद और आनन्द ये दोनों भिन्न हैं इस प्रकार की प्रतीति होती है। फिर आस्वाद और आनन्द ये दोनों भिन्न तत्त्व हैं अथवा एक ही हैं इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित होता है। अतः उपर्युक्त विवेचन संदिग्ध है'। यदि भरतमुनि के कथनानुसार रस को 'आस्वाद्य' पदार्थ के रूप में ग्रहण किया जाय तो उपर्युक्त संदिग्धता स्वयमेव मिट जाती है, यह पृथक् से बताने की आवश्यकता ही नहीं है। आगे पं० कस्तुरे शास्त्री लिखते हैं 'रस क्या पदार्थ है ? इसका उत्तर वह

१. मेरे 'रस-स्वरूप' लेख के विषय में भेजे गये पत्र में डा० शं० दा० पेंडसे ने विचार व्यक्त किया है कि मूलतः रस को आस्वाद्य पदार्थ के रूप में मान्यता दी जानी चाहिये।

२. पं० कस्तुरे शास्त्री का भाषण 'प्रतिष्ठान' फरवरी-मार्च, १९५७.

आस्वाद्यत्व है, यह भी कोई हेतु नहीं हो सकता। क्योंकि जैसे मिर्च और शक्कर बाह्य पदार्थ हैं और उनका आस्वाद हम जिह्वा से लेते हैं वैसे रस भी एक बाह्य पदार्थ है अथवा मानसिक अनुभव का विषय है इसका निर्णय इतने से नहीं होता। उसे यदि अपने से भिन्न बाह्य पदार्थ मान लिया जाय तो भरत की इस उक्ति 'आस्वादयन्ति मनसा' की संगति नहीं लग सकेगी। क्योंकि मन से मानसिक भावना ही प्रत्यक्ष होती है, उससे बाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता'। पं० कस्तुरे शास्त्री का यह कथन परम्परागत विचार-सरणी का उत्कृष्ट उदाहरण है। 'रसः इति कः पदार्थः' इस वाक्य में पदार्थ शब्द मराठीभाषागत पदार्थ-वाचक नहीं है, यह गुरुवर्य को विदित ही है। भरत ने द्रव्यगुण इत्यादि जो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं उनमें से रस कौनसा पदार्थ है ऐसा प्रश्न करके उन्होंने ही 'आस्वाद्यत्वात्' यह उत्तर भी दिया है। इससे वे रस को आस्वाद्यत्व के कारण (आस्वाद्य) द्रव्यवाचक पदार्थ के रूप में सूचित करते हैं। द्रव्य-वाचक पदार्थ बाह्य होता है या आन्तरिक यह प्रश्न भी सचमुच व्यर्थ है। 'आस्वादयन्ति मनसा' इस वाक्य से तो बाह्य पदार्थ नहीं है यह बिलकुल भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। 'कमल सुन्दर है' इस स्थापना से कमल को मानसिक मान लेना हास्यास्पद नहीं होगा क्या? रसों का आस्वाद मन से ग्रहण करने के कारण रसों को भी मानसिक मान लेने में 'विज्ञानवादी' भूमिका काम कर रही है। मन को मानसिक वस्तुओं का ही आस्वाद लेना नहीं आता वरन् यह बाह्य वस्तुओं का भी आस्वाद ले सकता है। यही तो मन का वैशिष्ट्य है। तात्पर्य 'आस्वादयन्ति मनसा' इस पद्यांश से रसों को मानसिक सिद्ध नहीं किया जा सकेगा। इसी कारण भरत-मुनि की अगली पंक्तियों से रस और आनन्द की भिन्नता का जो सन्देह श्री कस्तुरे शास्त्री को हुआ है, वह संदेह नहीं वरन् वास्तविक स्थिति है।

श्री कस्तुरे शास्त्री ने आगे लिखा है 'संदिग्ध विषय का निर्णय इतर-तत्सम्बन्धी वाक्यों से करना पड़ता है।' इसके लिए वे नाट्यशास्त्र के सातवें अध्याय का संकेत देते हैं। प्रस्तुत स्थल पर गुरुवर्य के प्रत्येक कथन पर विचार करना कठिन है। परन्तु इस स्थल पर एक बात कहनी आवश्यक लग रही है। भाव शब्द अत्यन्त संदिग्ध शब्द है। इस शब्द के लगभग दस अर्थ हैं। इसका प्रयोग सम्पूर्ण लोकधर्मी अस्तित्ववाचक

पदार्थों और उसी के साथ सम्पूर्ण नाट्यधर्मी—कलाधर्मी पदार्थों के लिए किया जाता है। जब पदार्थ लोकधर्मी होंगे तब 'भवन्तीति भावा:' इस प्रकार की भावों की व्याख्या करनी पड़ेगी। जब वे नाट्यधर्मी होंगे तब 'भावयन्तीतिभावा:' इस प्रकार की भावों की व्याख्या करनी पड़ेगी। नाट्यशास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन करने वालों को यह सहज ही प्रतीत होगा कि भरतमुनि के समक्ष भावों की प्रस्तुत दो व्याख्याएँ थीं। उदाहरणार्थ, 'कवेरन्तर्गतं भावम् भावयन् भाव उच्यते' इस पंक्ति में भाव शब्द दो बार आया है। इनमें से पहला लोकधर्मी भाव है तो दूसरा नाट्यधर्मी भाव। जिस प्रकार भाव शब्द के ये दो प्रकार हैं उसी प्रकार स्थायी-भाव, विभाव, अनुभाव इत्यादि सारे भाव ही हैं तो भी इन्हें एक ही व्याख्या के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता। साथ ही यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि भरत के सामने रस-निर्मिति की प्रक्रिया और रसास्वाद की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न रूप में थी। इन दो प्रक्रियाओं में भावों के जन्म की कहानी भिन्न-भिन्न प्रकार की है। यदि संदर्भ को हटाकर एक प्रक्रियागत भावों की जन्म-कहानी दूसरी प्रक्रिया में व्यवहृत की गई तो बहुत बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न होगी। इसी कारण रस-सिद्धांत के विषय में सारी भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई हैं। अतः गुरुवर्य को मेरी विनम्र सूचना यही है कि जब हम संदिग्ध विषय का निर्णय इतर-तत्सम्बन्धी वाक्यों से करने का प्रयत्न करते हैं तब उपर्युक्त तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है।

मेरे भाषण का विषय यहीं समाप्त हो गया। अब किंचित् सिंहावलोकन किया जाय। प्रस्तुत भाषण में रस-सिद्धान्त के समालोचकों के मैंने दो वर्ग बनाये हैं: १. जिन्हें परम्परागत रस-सिद्धान्त मान्य है परन्तु रस संख्या मान्य नहीं, २. जिन्हें मूलतः रस-सिद्धान्त ही मान्य नहीं है। मेरे विचार में इनमें से परम्परागत रस-सिद्धान्त (अर्थात् आनन्द सिद्धान्त) वास्तविक रस-सिद्धान्त नहीं है, अतः दूसरे वर्ग के समालोचकों के मत का परीक्षण प्रथम करना आवश्यक है। इसी कारण मैंने उपर्युक्त भाषण में प्रथम वर्गगत समालोचकों द्वारा मानसशास्त्र से किए गए इसके बलात् सम्बन्ध स्थापन का उल्लेख किया है। तदुपरान्त मैं रस-सिद्धांत-विरोधी समालोचकों की ओर अग्रसर हुआ हूँ। इन समालोचकों

ने 'रस-सिद्धान्त' को 'आनन्द-सिद्धान्त' के रूप में मानकर ही इसकी आलोचना की है। नवीन काव्य वस्तुनिष्ठ है अतः डा० देशमुख को आधुनिक नव काव्य के लिए नई वस्तुनिष्ठ कसौटी की आवश्यकता अनुभव हो रही है। इसके लिए उन्होंने 'भावगंध' नामक कसौटी का भी उल्लेख किया है। डा० देशमुख का यह कथन कि काव्य के लिए वस्तुनिष्ठ कसौटी की आवश्यकता होती है, मुझे मान्य है। परन्तु यह कसौटी केवल नव काव्य के लिए ही नहीं वरन् प्राचीन काव्य के लिए भी लागू होनी चाहिए। अतः मेरे विचार में मूलतः 'रस' ही इस प्रकार की वस्तुनिष्ठ कसौटी थी। श्री बेडेकर ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि रस का स्वरूप मानसिक नहीं है। उन्हें यह मान्य है कि रस-सिद्धान्त आनन्द-सिद्धान्त नहीं है। परन्तु श्री बेडेकर के मत में यह मूलतः अ-मानसिक रस-सिद्धान्त भी विशिष्ट संदर्भ में ही उपयुक्त हो सकता है। अतः 'देवासुर द्वन्द्व' के बाहर अथवा अधिक से अधिक अन्य एकाध काव्य के अतिरिक्त अन्यत्र यह लागू नहीं हो सकता। परन्तु सभी काव्य-नाट्यों का आनन्द-सिद्धान्त से ही परीक्षण किया जाता है, अतः श्री बेडेकर को भी आधुनिक काव्य के लिए किसी नवीन सिद्धान्त की आवश्यकता सम्भवतः प्रतीत हो। इसके विपरीत मेरे विचार में तो भरत द्वारा मूल रूप में प्रतिपादित रस नाट्य-काव्य का सार्वकालीन घटक हो सकता है। श्री मर्ढेकर ने भी रस का परम्परागत अर्थ ही लिया, अतः वे समालोचना के पात्र बने। तात्पर्य, उपर्युक्त तीनों समालोचकों को काव्य के लिए आनन्द की अपेक्षा किसी भिन्न कसौटी की आवश्यकता प्रतीत होती है और इसी कारण से उन्होंने रस-विषयक समालोचना की है।

रस काव्य का आवश्यक घटक है। इस विषय में सभी प्राचीन आचार्य एकमत हैं। कविता का यथार्थ आकलन हो सके इसलिए मैंने पाठकों पर पड़ने वाले कविता के प्रभाव का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। (प्राचीनों ने जिसे रस कहा है वह) आनन्द काव्य से उत्पन्न प्रभावों में छठा या अन्तिम स्थान पाता है। परन्तु इन प्रभावों के उद्देश्य से कोई काव्य-रचना नहीं करता और न कोई पढ़ता ही है। चौथा और पाँचवाँ प्रभाव ही काव्य के लिए आवश्यक होता है। परन्तु इन प्रभावों को

काव्यगत रखने के लिए उन्हें 'वागंग सत्वोपेत' होना आवश्यक है। एतदर्थ उन्हें उत्पन्न होना आवश्यक है। इन प्रभावों के प्रस्तुत 'वागंग सत्वोपेतत्व' को ही रस कहा जाता रहा होगा, सांख्य के तन्मात्र सिद्धांत के आधार पर मैंने यह अनुमान निकाला है।

सारांशतः मूलभूत रस-सिद्धान्त आनन्द-सिद्धान्त नहीं है और डा० मा० गो० देशमुख, श्री बेडेकर तथा श्री मर्ढेकर को काव्य के लिए जिस वस्तु की आवश्यकता भासित होती है वही वस्तु भरतमुनि को रस-सिद्धान्त में अभिप्रेत थी। परन्तु इसके लिए विज्ञानवाद के भ्रम-पटल से रस-सिद्धान्त को पृथक् करना आवश्यक है।

७ | रस, सौन्दर्य और आनन्द

रस, सौन्दर्य और आनंद इन तीन शब्दों का एक दूसरे से अत्यन्त निकट का संबन्ध है। काव्य से अथवा कला से इनका अटूट संबन्ध है। इसी कारण संभवतः रस-सौन्दर्य अथवा रस-आनंद ये पर्याय शब्द हैं, इस प्रकार की प्रतीति होने में सहायता मिली होगी। ऐसी स्थिति में रस-सौन्दर्य और रस-आनंद ये पर्यायवाची शब्द हैं अथवा नहीं इसका 'ऊहापोह' करना ही प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है। इसके लिए रस-सिद्धान्त की पुनः एक बार चर्चा करना आवश्यक हो गया है। इसी प्रकार सौन्दर्य की व्याख्या करने के लिए उसका भी विश्लेषण अपेक्षित है।

यह मैं मानकर चलता हूँ कि वाङ्मय कला का ही एक प्रकार है। अतः यह भी अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि समस्त कलाओं का अधिष्ठान जो सौन्दर्य है वही काव्य-वाङ्मय का भी अधिष्ठान होना चाहिए। सम्भवतः इसी आशय से जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' इस प्रकार से काव्य की व्याख्या की होगी। और यह मत आज सर्वमान्य-सा हो गया है। परन्तु यदि कला का सौंदर्य से ही सम्बन्ध मान लिया जाय तो अनेक युगों से काव्य की आत्मा माने जाने वाले हमारे रस-सिद्धान्त का क्या बनेगा ? इसका उत्तर सरल है, एक तो हमें रस-सिद्धान्त का ही त्याग करना पड़ेगा अथवा रस-सिद्धान्त का तात्पर्य आनन्द-सिद्धान्त है, यह मान्यता ही बदलनी पड़ेगी। डा० मा० गो० देशमुख, प्रा० बेडेकर और श्री मर्ढेकर ने रस-सिद्धान्त का त्याग करके काव्य के मूल्य-मापन के नवीन प्रकार सुझाये हैं।[1] इसके विपरीत

---

१. इस प्रकार की कसौटियाँ सुझाने का मैं विरोधी नहीं हूं। विशेषतः मर्ढेकर से मैं बहुत सहमत हूं।

मेरे मत में इन नवीन प्रकारों में और रस-सिद्धान्त में विशेष अंतर नहीं है, अतः रस-सिद्धान्त पर चढ़ी हुई अध्यात्मवाद की काई को हटाना आवश्यक है। रस-सिद्धान्त मूलतः आनन्द-सिद्धान्त नहीं है। मैं अपने मत की पुष्टि के लिए निम्न प्रश्न पूछता हूं। रस का अर्थ यदि आनन्द है यह सत्य माना जाय तो रस के आठ, नौ अथवा दस प्रकार कैसे बन सकते हैं? शृंगार, वीर, करुण इत्यादि प्रकार का आनन्द कैसे हो सकता है? इसका तात्पर्य यह है कि एक तो रस का अर्थ आनन्द नहीं है अथवा रस का तात्पर्य केवल (Simple) आनन्द नहीं है। दूसरे पर्याय को स्वीकार किया जाए तो रस एक संयुक्त पदार्थ (Complex object) (जिसका एक भाग आनन्द है) बनता है। ऐसी स्थिति में कभी भी रस का तात्पर्य आनन्द (अद्वैतवादी मत स्वीकार किये बिना) नहीं हो सकता। फलतः रस-सिद्धान्त की नये सिरे से व्याख्या करनी आवश्यक हो जाती है। पिछले लेखों में भरत से अभिनवगुप्त तक रस की कल्पना में उपस्थित परिवर्तनों का विश्लेषण किया जा चुका है।[१] अद्वैतदर्शन तथा अभिनवगुप्त के प्रभाव से जो एक बार रस को आनन्द रूप समझ लिया गया तब से अब तक यही धारणा बनी हुई है। प्रस्तुत धारणा को पुष्ट करने के लिए अभिनवगुप्त आदि ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ-साथ भरतमुनि के वचनों को भी आधार रूप में ग्रहण किया है। यह कितना न्यायसंगत है, इस पर भी विचार करना आवश्यक है।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के छठे और सातवें अध्याय में रस तथा भावों की चर्चा की है। छठे अध्याय में इन्होंने प्रश्न उठाया है—"अत्राह किं रसेभ्यो भावानाम् अभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति। उच्यते केषांचिन्मतं परस्पर संबन्धात् एषाम् अभिनिष्पत्तिरिति। तन्न कस्मात्। **दृश्यते हि भावेभ्यो रसानाम् अभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानाम् इति।**"[२]

इसके विपरीत सातवें अध्याय में निम्नलिखित श्लोक मिलता है:

योऽर्थो हृदय संवादी तस्य भावो रसोद्भवः।[३]

---

१. दे० रस का स्वरूप, लेख।

२. नाट्य-शास्त्र, काव्यमाला सं० पृ० ९३-९४।

३. नाट्यशास्त्र, वही, पृ० १०६

साथ ही 'विभावानुभाव व्यभिचारि परिवृत्तः स्थायीभावः रसनाम लभते।'[१]

इन अवतरणों से तीन बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो भावों से अर्थात् विभावानुभाव संचारीभावों से या उनके संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। दूसरी बात यह स्पष्ट होती है कि हृदयसंवादी अर्थ का भाव अर्थात् स्थायीभाव रस से उत्पन्न होता है। और तीसरी बात है कि विभावादि भावों से परिवेष्टित अर्थात् जिस स्थायी भाव का विभावादि में रूपान्तर होता है उस स्थायीभाव को ही रस कहा जाता है।

देखने में उपर्युक्त तीनों बातें परस्पर विरोधी लगती हैं। इसी कारण इनका अर्थ संदर्भ के आधार पर निश्चित करना आवश्यक है। इनमें से प्रथम अवतरण काव्य-निर्मिति की प्रक्रिया से सम्बद्ध है। काव्य-निर्मिति के क्षणों में कवि मनोगत स्थायीभावों का विभावानुभावादि में परिवर्तन (तीसरा अवतरण देखिए) और विभावानुभावादि का रस में अर्थात् अंतर्गत भाव की (स्थायीभाव की) वस्तुनिष्ठ भाव में (रस में) परिणति साहजिक है। काव्य-निर्मिति से सम्बद्ध कोई भी आधुनिकतम शास्त्रीय ग्रन्थ यही बात कहेगा। इसके विपरीत दूसरे अवतरण का संबन्ध काव्यास्वाद की प्रक्रिया से है। सहृदय जब रस-ग्रहण करेगा तब रस का परिपाक स्थायीभावों में ही होना अपेक्षित है। इसी प्रकार तीसरे अवतरण का संबन्ध पुनः काव्य-निर्मिति की प्रक्रिया से है। काव्य-निर्मिति की प्रक्रिया और काव्यास्वाद की प्रक्रिया ये दो भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। इनको पृथक्-पृथक् माने बिना रस-सिद्धान्त पर विचार करना कठिन है। निर्मिति की प्रक्रिया में "स्थायीभाव→विभावादिभाव→रस" और काव्यास्वाद की प्रक्रिया में "रस→स्थायीभाव" इस प्रकार का क्रम-निर्धारण आवश्यक होगा।

इस स्थान पर एक और तथ्य पर विचार करना आवश्यक है। प्रश्न है—क्या इस प्रक्रिया में कहीं आनंद को स्थान प्राप्त है? ज्ञान हो अथवा कला हो आनंद उसकी परिधि में रहता ही है। परन्तु आनंद दो प्रकार से इस परिधि में आता है। किसी तथ्य का अनुसन्धान करते समय

---

१. नाट्यशास्त्र, पृ० १०७

(Discovery ज्ञान-प्रक्रिया है) अथवा किसी प्रकार की निर्मिति (काव्य-प्रक्रिया) के क्षणों में आनंद सहचर रहता ही है। इसी प्रकार साध्य की प्राप्ति पर भी आनंद होता ही है। परन्तु "केवल आनन्द" कभी भी साध्य नहीं हो सकता। प्रकृति के सौन्दर्यांकन से उत्पन्न आनन्द दूसरे प्रकार का आनन्द होता है। अतः काव्य-निर्मिति की प्रक्रिया का निरूपण करते समय उसके तीन संस्थान सामान्य रूप से इस प्रकार के बनेंगे :

"प्रकृति → सौन्दर्य → आनन्द → स्थायीभाव →
→ **स्थायीभाव → विभावादिभाव → रस**"

आनन्द

इसके विपरीत काव्यास्वाद की प्रक्रिया के संस्थान स्थूलरूप से इस प्रकार होंगे : "रस → सौन्दर्य → स्थायीभाव → आनन्द"। कोई भी प्रक्रिया हो उसमें "केवल आनंद" को गौण स्थान ही प्राप्त रहता है। केवल आनंद के लिए कोई भी निर्मिति नहीं होती। और केवल आनंद किसी भी कला का साध्य भी नहीं हो सकता। परन्तु उपर्युक्त अवतरणों में उलटफेर किया जाय तो हमें जो बात कभी भी अभीष्ट या स्वीकार्य नहीं हो सकती, वही सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार से रस और आनन्द का एकीकरण हो जाता है और आनंदवाद का निर्माण होता है। उदाहरणार्थ, हम प्रथम और तृतीय अवतरण पर दृष्टिपात करें "दृश्यते हि भावेभ्यो रसानाम् अभिनिर्वृत्तिः"......और 'स्थायीभावो रसनाम लभते।' इस अवतरण का संबन्ध काव्य-निर्मिति की प्रक्रिया से है। इस बात को दृष्टि से ओझल कर दिया जाय और काव्यास्वाद की प्रक्रिया से उसका संबन्ध जोड़ा जाय तो कुछ और ही बात बनेगी। इससे रस भावों के विशेषतः स्थायीभावों के बाद का संस्थान निर्धारित होता है। अतः वह आनंद-वाचक हो जाता है। भरत के नाट्यशास्त्रगत 'रस' को आनंदवाचक मानने में यही तर्क-पद्धति प्रस्तुत की गई है। और संपूर्ण जगत् को आनंदमय मानने वाले दर्शन ने इस विचार-पद्धति को पुष्टि प्रदान की है। परन्तु उपर्युक्त दृष्टि से विचार करने पर यह विचार-पद्धति एक भ्रम पर अधिष्ठित है यह स्पष्ट होगा, अतः इसका त्याग कर देना आवश्यक है।

परन्तु यह भ्रम कैसे उत्पन्न हुआ ? इस प्रश्न पर यहाँ विचार करना उपयुक्त ही है। रस का तात्पर्य है—आनंद। यह कल्पना भट्टनायक तक के मीमांसकों के मस्तिष्क में नहीं आई थी। 'रस' का आनंद रूप में विश्लेषण भट्ट लोल्लट, शंकुक अथवा सांख्यमतानुयायी लेखकों ने नहीं किया है। अतः यह अनुमान लगाना उपयुक्त ही है कि रस से तात्पर्य आरंभ में तो आनंद नहीं था। लोग यह भूल गये कि काव्य-निर्मिति की प्रक्रिया और काव्यास्वाद की प्रक्रिया ये दोनों भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। अनध्याय के दिन मनोरंजन के लिए नाट्य की ओर जब पंडितों का ध्यान गया तब पांडित्यपूर्ण विवेचन आरंभ हुआ। परिणामतः प्रथम प्रक्रियागत स्थायीभावों से निर्मित रस द्वितीय प्रक्रियागत भावों का परिणाम अर्थात् "आनंद" समझा गया। प्रस्तुत आशय निकालने में मेरे मत में अद्वैत और बौद्ध दर्शनों की काव्यशास्त्रज्ञों ने पर्याप्त सहायता ली है। विशेषतः जिसका निर्माण नहीं हो सकता और जिसका विनाश भी संभव नहीं है ऐसे आनंदमय ब्रह्म की कल्पना भट्टनायक ने रस पर लाद दी और रस-निष्पत्ति का सरल अर्थ न ग्रहणकर रस का केवल साक्षात्कार हो सकता है, इस प्रकार की स्थापना की। यद्यपि यह सत्य है कि अभिनवगुप्त केवलाद्वैतवादी नहीं थे तो भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन को अद्वैत का ही एक प्रकार मानना चाहिए। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार 'माता एकः स इति स्थितिः' अर्थात् केवल प्रमाता ही रहता है। (फिर चाहे वह शिव रूप हो या अन्य कोई रूप) और यदि ऐसी स्थिति रहती है, तो ज्ञेय की भी क्या आवश्यकता है ? फलतः ज्ञानशास्त्र में ज्ञेयत्व को और काव्यशास्त्र में आस्वाद्यत्व को बहिष्कृत कर दिया गया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ज्ञेय की आवश्यकता नहीं, ज्ञान और ज्ञाता एक ही हैं और उनके स्वरूप को एक बार जब आनंद मान लिया गया तब रस का आनंद से भी समीकरण कैसे अनायास हो गया, यह समझने में विलम्ब नहीं लगेगा। म० म० गुरुवर्य कस्तुरे शास्त्री के मत में प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जगत् को सत्य माना गया है फिर मेरी स्थापना कैसे संभव हो सकती है ? परन्तु इसका उत्तर अत्यन्त सरल है। प्रत्यभिज्ञावादियों ने जगत् को सत्य मानते हुए भी उसे 'शिव का प्रकाश' ही माना है; अतः लौकिक अर्थ में जगत् उनके अनुसार मिथ्या ही ठहरता है। इसके अतिरिक्त रस की समीक्षा

करते समय दर्शनशास्त्र में मान्यता प्राप्त विज्ञानवाद की भूमिका को अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती' में स्पष्ट रूप में ग्रहण किया है—'विज्ञानवादावलम्बनात्'—अर्थात् उन्होंने स्पष्ट निर्दिष्ट कर दिया है कि इस स्थल पर बौद्धदर्शन का ही आश्रय लेना चाहिए। इस प्रकार से विज्ञानवाद का एक बार आश्रय लेने पर विश्वनाथ ने रस को ब्रह्मास्वाद सहोदर अथवा मम्मट ने इसे आनंदरूप अथवा न० चिं० केळकर ने आत्म-स्वरूप और रसानुभव का तात्पर्य सविकल्प समाधि रूप मान लिया तो इसमें त्रुटि कहाँ से आ गई ? यह बात ध्यान देने की है कि जगन्नाथ जैसे आचार्यों ने जो वेदान्ती नहीं थे, रस की प्रस्तुत कल्पना को किञ्चित् भिन्न मार्ग-दर्शन का प्रयत्न किया है। सारांशतः दर्शनशास्त्रगत ज्ञान-वादी और आनंदवादी मान्यताओं के संयोग से रस का मूलभूत अर्थ समाप्त-सा हो गया है।

यदि रस का तात्पर्य आनन्द नहीं है, तो उसका तात्पर्य सौंदर्य मानने में क्या आपत्ति है ? वस्तुतः कला के विषय में वस्तुवादी दृष्टि-कोण के समर्थक दार्शनिकों को यह मत स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। सौंदर्य को वस्तुगत मानने वाले श्री मर्ढेकर को (मेरे दृष्टिकोण के अनुसार) रस का तात्पर्य सौंदर्य मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यद्यपि मैं वस्तुवादी दृष्टिकोण का समर्थक हूँ फिर भी सौंदर्य के विषय में मुझे विशुद्ध वस्तुनिष्ठ भूमिका सुसंगत प्रतीत नहीं होती। परन्तु मेरी मान्यता उपयुक्त ही है, यह मेरा आग्रह नहीं है। परन्तु ज्ञान-प्रक्रिया के उपमान ग्रहण कर कला-स्वरूप का निर्धारण करना कहाँ तक संगत अथवा असंगत है, इस विषय में मुझे संदेह है। क्योंकि ज्ञान-प्रक्रिया और कला-प्रक्रिया ये दोनों मूलतः भिन्न प्रक्रियाएं हैं।[१] उदाहरणार्थ, एक संगमरमर का पुतला हमारे सामने उपस्थित है। ज्योंही हम आँख खोलते हैं त्योंही हमें पुतला दिखाई देता है। इस प्रक्रिया को ज्ञान-प्रक्रिया कहते हैं। परन्तु पुतले का ज्ञान होते ही वह एक कलाकृति है, 'वह पुतला सुन्दर है' यह ज्ञान हमें होगा क्या ?

---

१. 'रस=सौन्दर्य' यह मत भरत के लिए भी अभीष्ट नहीं था, यही मेरी धारणा है।

'वह पुतला है' और 'वह पुतला सुन्दर है' ये दोनों विधान (Judgements) एक ही आकार (Form) के हैं क्या ? मेरे विचार में वे दोनों एक ही आकार के नहीं हैं। क्योंकि यदि वे एक ही आकार के होते तो जिस समय मुझे 'वह पुतला है' यह प्रतीत होता है उसी समय मुझे 'वह पुतला सुन्दर है' यह भी प्रतीत होना चाहिए। इस पर कुछ लोगों का उत्तर यह होगा कि वस्तुस्थिति ऐसी ही होती है। परन्तु यदि ऐसी ही बात होती तो 'सुन्दर' की प्रतीति के लिए केवल अच्छे नेत्रों की आवश्यकता होती। और एक जैसे नेत्र रखने वालों को वह पुतला समान रूप से सुन्दर लगता। परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न होती है। पुतला बनाते समय अथवा वह पुतला सुन्दर है ऐसा विधान करते समय हम 'कुछ न कुछ अधिक' 'पुतला' नामक वस्तु में ढालते हैं। इस 'कुछ न कुछ' का सौन्दर्य से सम्बन्ध अपेक्षित है। कहा जाता है कि किसी कलाकृति के निर्माण के समय कलाकार अपने प्राणों को उसमें ढालता है, और इस प्रकार के प्राणों के ढालने की प्रक्रिया के समान्तर एक अनुभूति प्रेक्षकों के मन में उत्पन्न होती है। पुतले की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, पुतले का रंग, पुतले के अवयव आदि का कथन मात्र पुतले का सौंदर्य-निरूपण नहीं है। फिर उस पुतले का सौंदर्य किसमें निहित है ? यदि सौंदर्य केवल उस वस्तु में नहीं है तो वह वस्तु और प्रेक्षक इनके संयोग में तो अपेक्षित है। और मेरे मत में यहीं सौंदर्य की स्थिति है। प्रो० अलेक्जेंडर के मतानुसार 'गुलाब का रंग मनुष्यनिरपेक्ष होता है परन्तु किसी प्रेक्षक के बिना गुलाब सुन्दर नहीं हो सकता।' मेरा मत सर्वग्राह्य होगा यह भी मेरी अपेक्षा नहीं है। केवल वस्तुतत्त्व होने मात्र से वस्तु सुन्दर नहीं होती उसमें भावतत्त्व (Emotional element) का योग होना आवश्यक है।

सौंदर्य दृष्टि के बिना कला का निर्माण नहीं होता। यद्यपि सौन्दर्य का आदर्श नेत्रों के सामने रखने पर कला-निर्माण होता है। फिर भी यह प्रश्न रह ही जाता है कि कला और सौंदर्य का सम्बन्ध किस प्रकार का है। यदि सौंदर्य 'सांयोगिक गुण' (Relational quality) है तो सौंदर्य की स्थिति केवल प्रकृति में ही नहीं हो सकती और केवल कलाकृति में भी नहीं हो सकती। फिर 'सौंदर्य के बिना' कला को कैसे कला माना जाएगा ? परन्तु इस विषय में और अधिक गहराई में जाकर विचार

करना अपेक्षित है। प्रथम 'शब्द' और 'अर्थ' इनके पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक है। 'शब्द' में अर्थ निहित होता है, इसका क्या तात्पर्य है ? इसका अर्थ क्या इतना ही नहीं है कि शब्द अर्थ के चिह्न, अर्थ के प्रतीक मात्र होते हैं। शब्द और अर्थ का अथवा भाषा और विचारों का जो सम्बन्ध है, वही कला और सौंदर्य का भी सम्बन्ध होना चाहिए। कला सौंदर्य की भाषा है और विशिष्ट प्रतिमाएं कला की भाषा है। इन प्रतिमाओं से ही प्रथम कला की और तत्पश्चात् सौंदर्य की अभिव्यक्ति और अनुभूति होती है। कला यदि प्रस्तुत प्रतिमा-निर्माण में समर्थ हो सकी तो उसका कार्य सम्पन्न हो जाता है। कला और कल्पना इन दोनों में एक बड़ा साम्य है। यहाँ तक कि कल्पना से ही कला अभिव्यक्त हुआ करती है। जो पहले से ही अस्तित्व में है उसका अनुसंधान कला नहीं करती। मानसिक कल्पना के समान कला भी कुछ न कुछ नव-निर्माण करती है। कला के लिए जनक की आवश्यकता होती है और उसकी कल्पना से ही कला का जन्म होता है। विश्वामित्र की इस सृष्टि में सत्यजगत् के परमाणुओं को सृजन के नगों से जड़ा जाता है। सृजन के प्रस्तुत नगों को किस प्रकार से जड़ा जाय ? सत्यजगत् के परमाणुओं की कल्पना को या सृजनात्मकता को किसी न किसी पद्धति से वस्तुनिष्ठ करना ही कला का प्रयोजन है। प्रत्येक कलाकार अपनी-अपनी कला के लिए इस प्रकार की प्रतिमाओं का निर्माण करता रहता है। इस प्रतिमा से ही कला का और कला से सौन्दर्य का दर्शन होता है।

जिन्हें कला की भाषा के रूप में पहचाना जा सकता है, ऐसी इन प्रतिमाओं को 'रस' शब्द से सम्बोधित करना कहाँ तक उचित है ? कम से कम भरतमुनि का दृष्टिकोण तो इसी प्रकार का प्रतीत होता है। यदि सौंदर्य की स्थिति कलाकृति और सहृदय इनके संयोग में निहित है तो 'कलाकृति की प्रतिमा और सौंदर्य' (कलाकृति+सहृदयभाव) ये दो बातें हमें माननी पड़ेंगी। इस प्रकार की कल्पना भरतमुनि-समकालीन मान्यताप्राप्त सांख्यदर्शन में है। तन्मात्र और पंचमहाभूतों का सम्बन्ध इसी प्रकार का है। यदि हमें पृथ्वी महाभूत का ज्ञान अपेक्षित है तो हमें 'गन्ध' तन्मात्र को जानना चाहिए। आकाश महाभूत का ज्ञान होने के

लिए 'शब्द' तन्मात्र अपेक्षित है। संक्षेप में तन्मात्र का सिद्धान्त काण्ट के (Forms of Sensibility) के सिद्धान्त जैसा है। इसके अतिरिक्त हमारी ज्ञानेन्द्रियों की संवेदनाओं के लिए वस्तुनिष्ठ जगत् में कुछ न कुछ 'वस्तुमात्र' की अपेक्षा होती है। और तन्मात्र से प्रस्तुत वस्तुमात्र की उपलब्धि होती है। इस प्रकार की इन सभी संवेदनाओं में सबसे अधिक पुष्ट संवेदन 'रस' तन्मात्र से मिलता है। क्योंकि इस संवेदना में सभी संवेदनाएं अन्तर्भूत हैं। इसी कारण भरतमुनि ने 'रस' शब्द को सांख्य-दर्शन से ग्रहण किया होगा। तन्मात्र से इस प्रकार के शब्दों के ग्रहण की पद्धति दिखाई देती है। आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ध्वनि-सिद्धान्त की पूर्णता के लिए इसी प्रकार का ध्वनि शब्द (शब्द तन्मात्र) ग्रहण किया है। डा० मा० गो० देशमुख ने भी (भाव) 'गंध' शब्द इसी प्रकार का ग्रहण किया है। सारांश यह है कि तन्मात्र का कलाकृति से और महाभूत का सौंदर्य से साम्य अथवा समांतरत्व देखकर भरतमुनि ने सबसे पुष्ट तन्मात्र जो 'रस' है, उसे 'काव्य-नाट्य' रूप कला की प्रतिमा[1] के लिए चुन लिया है। और आगे चलकर रस शब्द अन्य संगीत आदि कला की प्रतिमाओं को व्यक्त करने के लिए भी प्रयोग में आने लगा।

इस आशय से देखें तो 'रस' शब्द साहित्य आदि कलाकृतियों की प्रतिमाएं व्यक्त करने के लिए अत्यन्त उपयुक्त शब्द है। सौंदर्य में उसका आविष्कार सहज ही हो जाता है। और वह (रस) नाट्य, संगीत, नृत्य, शब्द इत्यादि के माध्यम से भी व्यक्त हो सकता है। इसी कारण इस नवीन आशय से रस-सिद्धान्त की उपयुक्तता का मूल्यांकन कम नहीं हो सकता।

रस-सिद्धान्त की कसौटी पर आधुनिक काव्य का परीक्षण सम्भव नहीं है। हाँ, प्राचीन काव्य का मूल्यांकन सम्भव है, इस प्रकार की धारणा आज के अनेक विद्वानों की है। परन्तु वस्तुस्थिति तो यह है कि प्राचीन और नवीन काव्यों के लिए दो अलग-अलग कसौटियाँ नहीं हो सकतीं। जिस कसौटी पर आज का काव्य काव्य-रूप में निर्धारित किया

१. प्रतिमा शब्द संदेह में डालने वाला है। परन्तु अन्य शब्दों के अभाव में इस शब्द का प्रयोग किया गया है। जो प्रतिमाएं दर्शनीय नहीं हैं, उनका भी इसमें अन्तर्भाव है।

जाता है, उसी कसौटी पर कल का काव्य (यदि वह सचमुच में काव्य है तो) भी काव्य-रूप में निश्चित होना चाहिए। और रस-सिद्धान्तानुसार यदि आज का काव्य काव्य रूप में निर्धारित नहीं होता तो कल का काव्य भी काव्य रूप में निर्धारित नहीं होना चाहिए। वस्तुस्थिति यह है कि हम प्राचीन अथवा नवीन काव्य के लिए रस-सिद्धान्त की कसौटी लगाने का आग्रह तो करते हैं, परन्तु हम उस वास्तविक कसौटी का उपयोग ही नहीं करते। वास्तव में रस-सिद्धान्त काव्य की कसौटी का सिद्धान्त ही नहीं है।

तात्पर्य, आज तक जिसे रस-सिद्धान्त समझा गया है, वह रस-सिद्धांत न होकर आनन्द-सिद्धान्त है। इस आनन्द-सिद्धान्त को त्याग कर हमें रस-सिद्धान्त को स्वीकार करना चाहिए। परन्तु ऐसा करते समय प्राचीन काल में रस और आनन्द शब्दों में जैसी भ्रांति उत्पन्न कर दी गई है वैसी भ्रांति रस और सौन्दर्य शब्दों में नहीं होनी चाहिए। रस तो सौन्दर्य की प्रतिमा है, सौन्दर्य नहीं है। इसी कारण रस और सौन्दर्य शब्द एक दूसरे के पूरक हैं और कला के लिए सौन्दर्य का ध्येय निर्धारित करते समय रस-सिद्धान्त से आँखें नहीं मूँदी जा सकतीं।

८ | रस-संख्या

रस का तात्पर्य आनन्द नहीं वरन् काव्यगत वस्तुमात्र है। इस तथ्य को निर्धारित करने के उपरान्त रस-संख्या के विषय में प्रश्न उठना स्वाभाविक है। मेरे विचार में नाटक और काव्य में रसों की संख्या न्यून या अधिक हो सकती है। मेरे मत में भक्ति, शान्त अथवा देशभक्ति का नाटक में स्थान ही नहीं हो सकता। वत्सल रस की नाटक में स्थिति हो सकती है। परन्तु इस प्रकार के कतिपय अपवाद छोड़ दिए जाएँ तो जितने स्थायीभाव उतने ही रस इस प्रकार के सिद्धान्त की स्थापना में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए। परन्तु स्थायीभाव का डा० वाटवे आदि ने जो मूल प्रेरणा या सहज प्रवृत्ति आदि अर्थ निकाला है वह सदोष है। यह सत्य है कि मूल प्रेरणा के बिना स्थायीभाव उत्पन्न नहीं होंगे। परन्तु स्थायीभाव का तात्पर्य मूल प्रेरणा से परिपुष्ट भाव (Emotion) कहा जा सकता है, परन्तु यह भी स्थूल रूप में ही माना जा सकता है। क्योंकि भरतमुनि की उक्तियों से यह सुनिश्चित रूप में ध्वनित नहीं होता। स्थायीभावों से भरतमुनि को केवल मानसिक अवस्था मात्र अभिप्रेत थी अर्थात् सामान्यतः यह अवस्था भावनात्मक अर्थात् (Emotional) होगी ही। स्थायी का सरल अर्थ है स्थित या खड़ा हुआ। स्थायीभाव का तात्पर्य हुआ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के पीछे स्थित भाव अर्थात् नट जिसका आविष्कार करते हुए दिखाई देते हैं वे भाव न होकर कवि और सहृदय के मन में निहित भाव। यदि रंगमंच पर सामान्य मनुष्य नायिका से शृंगारिक चेष्टाएँ कर रहा हो तो स्थायीभाव रति नहीं होगा। क्योंकि कवि के मन में अथवा सहृदय के मन में उस प्रसंग में अथवा उस समय में रति नहीं होगी। ईर्ष्या, विनोद याँ दया इनमें से कोई भी अवस्था सहृदय की हो सकती है। उसी प्रकार की अवस्था कवि के मन में भी प्रसंग-निर्माण के समय होगी और नट

वर्ग भी अभिनय-समष्टि से यही प्रभाव प्रेक्षकों के मन पर डालने का प्रयत्न करेगा।

एक, दो अथवा तीन प्रेरणाओं के एकत्र मिलन से अनेक प्रकार के स्थायीभाव उत्पन्न हो सकते हैं। और नाटक अथवा काव्य में ये स्थायीभाव आवश्यक होते हैं।

कहा जाता है कि संगीत की उत्पत्ति लैंगिक भावना से हुई है। परन्तु जिस प्रकार से लैंगिक भावना और संगीत एक नहीं हैं उसी प्रकार से पुष्टभाव और मूल प्रेरणा एक नहीं हो सकते। भाव (Emotions) वस्तु की सहायता से पुष्ट होते हैं। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि सहज प्रवृत्तियों को इस प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। वैसे ही सहज प्रवृत्तियाँ अवचेतन (Unconscious) होती हैं। विशुद्ध मूल प्रेरणाओं और स्थायीभावों को एक ही समझा जाय तो वत्सल और शृंगार में अन्तर करना कठिन होगा। ऐसी स्थिति में मक्डूगल की मूल प्रेरणाओं की सूची पर अवलम्बित रहकर उनमें से आठ रसों अथवा नौ रसों का स्थिरीकरण उचित नहीं है। तात्पर्य, पुष्ट भावों (Emotions) का जितना वर्ग-विभाजन होगा उतना ही सामान्यतः रसों का होगा। केवल एक ही बात ध्यान में रखने की है वह यह कि जिस अवस्था को हम सामान्यतः सेंटीमेंट (Sentiment) अथवा 'इमोशन' (Emotion) कहते हैं वह वास्तविक अर्थ में उस प्रकार की सम्भवतः न हो। यदि ऐसा हो तो एक सामान्य भावावस्था प्रसंगानुरूप भिन्न-भिन्न स्वरूप में व्यक्त हो सकेगी। उदाहरणार्थ, देशभक्ति भाव लें, कभी तो वह वीरता का रूप ग्रहण करेगा तो कभी कारुण्य का, कभी उसमें भक्ति जागृत होगी तो कभी रुद्रता और भयानकता भी आ सकेगी। फलतः मुझे पूर्ण आशंका है कि देशभक्ति वास्तविक रूप में स्थायीभाव हो सकेगी या नहीं। 'इमोशन्स' के लिए एक वस्तु की आवश्यकता होती है, यह मुझे मान्य है। परन्तु वस्तु के परिवर्तन के साथ 'इमोशन्स' भी बदल जाते हैं, यह उतना सत्य नहीं लगता। शेर को सामने देखकर उत्पन्न भीति और रीछ को देखकर उत्पन्न भीति में अन्तर ही क्या किया जा सकता है? इस आशय से कदाचित् किसी प्रसंग में प्रक्षोभ, देशभक्ति अथवा क्रान्ति में एक से अधिक किसी अन्य स्थायीभाव का आविष्कार सम्भवतः न हो।

साथ ही यह भी सम्भव हो सकता है कि इनमें प्रत्येक का पृथक्-पृथक् स्थायीभाव हो।

परन्तु इस पद्धति से विचार करने पर रसों की अथवा स्थायीभावों की संख्या आठ अथवा नौ ही रहेगी, ऐसा कहना भी उचित नहीं है। वह युगानुरूप अथवा ज्ञानानुरूप घट-बढ़ सकती है।

९ | रस-सिद्धि

सभी प्रकार का ज्ञान एक आशय से भूतकाल तथा वर्तमान काल के समन्वय का परिणाम होता है। इस प्रक्रिया में जब भूतकालीन ज्ञान बढ़े हुए वर्तमान काल के ज्ञान से असमन्वित होता है, तब ज्ञान के असमन्वयात्मक अंश को तिरस्कृत कर दिया जाता है। जब एक व्यक्ति किसी विषय को समझने का प्रयत्न करता है तो आरम्भिक प्रयत्न उसे अप्रौढ़ प्रतीत होता है, यद्यपि कालान्तर में यह क्रमशः प्रौढ़ होता जाता है। परिणामतः आरम्भिक प्रयत्न किसी विषय का पूर्ण और सही-सही चित्र प्रस्तुत नहीं करते और विचारक के मस्तिष्क का भी पूरा-पूरा ज्ञान नहीं हो पाता है। आरम्भिक प्रयत्नों का महत्त्व असंदिग्ध है, क्योंकि उनमें सत्य का बीज निहित होता है। इस क्रमिक विकास की प्रक्रिया को पाणिनि के 'पूर्वत्रासिद्धिम्' सूत्र से भली प्रकार समझा जा सकता है।

मेरे अधिकांश लेख उपर्युक्त प्रक्रिया का ही स्पष्टीकरण करते हैं। उनमें भाषा तथा विचारों के विषय में बहुत-सी संदिग्धताएं हैं और सत्य के अंश तक पहुंचने के लिए बहुत से बाह्य आवरण को तिरस्कृत कर देना आवश्यक है। यह अपरिहार्य है। मेरा यह लगभग सर्वप्रथम प्रयत्न था। इससे मैंने परम्परा-भिन्न मार्ग का अनुसरण करके भारतीय काव्य और कला के क्षेत्र में योगदान करने वाले भरत तथा अन्य प्रौढ़ आचार्यों के मतों को समझने और उनकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। निःसन्देह मुझे अपनी रस तथा सौन्दर्य सम्बन्धी प्रस्तुत प्रमुख धारणाओं में अब भी पूरा विश्वास है और वे मुझे सही प्रतीत होती हैं। इस प्रकार की स्थापना के मुख्यतः दो कारण हैं—१. मेरे विचार में यह विश्वास करना सही नहीं है कि प्राचीन आचार्य कला और काव्य की समस्याओं को पूर्ण रूप से नहीं समझ सके थे। और मुझे ऐसा लगता है कि

उनकी रचनाओं में ही इस तथ्य के सबल प्रमाण हैं, केवल उनकी सही रूप में व्याख्या करने की आवश्यकता है।

प्राय: प्रत्येक कला में दो प्रकार की समस्याएं दिखाई देती हैं। समस्याओं के एक वर्ग का सम्बन्ध रचना-प्रक्रिया से होता है तो दूसरे का उसके आस्वादन से। कला की रचना-प्रक्रिया की समस्याओं तथा उसके आस्वादन की प्रक्रिया के बीच किसी न किसी प्रकार का साम्य मिलना अनिवार्य है। क्योंकि आस्वादन का सम्बन्ध रचना से पूर्व की अवस्था तथा रचना-प्रक्रिया की अवस्था से भी होता है। कलाकार को आस्वादन के तत्त्व से एकान्ततः मुक्त नहीं किया जा सकता। इसकी तो कम से कम उससे आशा की ही जा सकती है। रचना के समय कलाकार निरन्तर आस्वादन भी करता है और उसकी रचना एक प्रकार से अनुभूति के आस्वादन का ही परिणाम होती है। परन्तु रचना-प्रक्रिया आस्वादन की प्रक्रिया से अधिक जटिल होती है। आस्वादन एक प्रकार का ग्रहण है। यहाँ तक कि जब यह प्रक्रिया चलती रहती है तब भी यह किसी अन्य कार्य की ओर प्रवृत्त नहीं कराती। जहाँ तक रचना-प्रक्रिया का सम्बन्ध है वह गतिशील होती है। इसका उत्तम रूप अभिव्यक्ति की उत्कटता के क्षणों में देखा जा सकता है। यदि व्यापक अर्थ में कहें तो आस्वादन एक प्रकार का प्रभाव है और रचना उस अभिव्यक्ति का नाम है जो प्रभावजन्य होती है। प्रभाव का सम्बन्ध व्यक्ति से होता है और अभिव्यक्ति में समष्टि के तत्त्व निहित होते हैं। जब अभिव्यक्ति को वस्तु-रूपता (आब्जैक्टिव फार्म) प्राप्त होती है, तब उसमें व्यक्तिगत नियम, व्यक्तिगत मनःस्थिति या कल्पना नहीं रहती वरन् वह समष्टिगत गुणों से युक्त हो जाती है और इसमें प्रेषणीयता की शक्ति आ जाती है। प्रस्तुत प्रेषणीयता का तत्त्व ही कलाकार का आस्वादक से सम्बन्ध जोड़ता है और कला को सार्वजनीन बनाता है तथा उसे कालिक सातत्य (Temporal Continuam) प्रदान करता है। कला की सुदृढ़ वस्तुरूपता ही प्रेषणीयता का माध्यम होती है। मेरे विचार में भारतीय काव्यशास्त्र के लगभग सभी प्रमुख लेखक इन तथ्यों से अवगत थे और प्रेषणीयता को कला का महत्त्वपूर्ण अंग मानते थे। कला के आस्वाद पक्ष पर अधिक बल देने वाले अभिनवगुप्त तक ने ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन'

के आरम्भ में इस तत्त्व का स्पष्टतः उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है— सहृदय और कवि के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने वाला सरस्वती का यह तत्त्व विजयी होता है।[1]

यद्यपि कला-सिद्धान्त के क्षेत्र में प्रेषणीयता एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है फिर भी इसकी जटिलता विभिन्न कलाओं के साथ भिन्न-भिन्न रूप में उपस्थित होती है। उदाहरणार्थ, संगीत कला में 'प्रेषणीयता' का अस्तित्व कलाकार पर निर्भर करता है। परन्तु मूर्तिकला और चित्रकला में इसका आधार वस्तु का रूप होता है और इसका स्वतंत्र अस्तित्व होता है। काव्य की प्रेषणीयता सभी प्रकार के प्रयोजनों के लिए सहायक होती है, क्योंकि इसका आधार भाषा होती है। इसका बाह्य आकार केवल प्रतीकात्मक होता है और इसलिए इसका महत्त्व शीघ्र भुला दिया जाता है। दूसरी ओर रंगमंचीय नाटक की कला में प्रेषणीयता का तत्त्व बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। प्रथम लेखक द्वारा जैसी इसकी निर्मिति होती है वैसी ही निर्मिति दूसरी बार दिग्दर्शक और कलाकारों के द्वारा होती है। वास्तविकता यह है कि प्रेषणीयता के एक विशिष्ट रूप के कारण ही काव्य और रंगमंच-प्रयुक्त नाटक में अंतर हो जाता है अन्यथा रंगमंच से अलग होने पर नाटक का स्वरूप भी केवल काव्य जैसा ही है। रंगमंच-प्रयोग ही नाटक को 'नाट्य' में रूपान्तरित कर देता है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि नाट्य से सम्बन्धित रचना में मुख्य रूप से रंगमंच की कला का ही विवेचन हो और भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में भी मुख्य रूप से नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करने की कला का ही विवेचन है। यद्यपि काव्य में प्रेषणीयता का अंग महत्त्वपूर्ण होता है तथापि काव्य विषयक रचना में प्रेषणीयता के विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण बहुत सूक्ष्म रूप से नहीं हो सकता। उसका अत्यन्त विस्तार से ठीक-ठीक वर्णन करना कठिन है। क्योंकि काव्य में प्रेषणीयता के विषय में एक प्रकार से बहुत अधिक ध्यान देने की आवश्यकता भी नहीं होती। चिह्न और प्रतीकों के रूप में ही प्रेषणीय वस्तु आकार ग्रहण करती है, बोलचाल की भाषा में दृश्य या श्रव्य ध्वनियाँ होती हैं तो लिखित भाषा में

---

१. सरस्वत्यास्तत्त्वं कवि सहृदयाख्यं विजयते।

अक्षर होते हैं। यह सब एक ही व्यक्ति अर्थात् कवि का कार्य होता है। इससे व्यष्टि का समष्टि के लिए संक्रमण मिलता है। इसमें व्यक्तिगत मानसिक अनुभूति को समष्टि-ग्राह्य बनाने के लिए मानो उसे अनूदित करना पड़ता है। इसमें सामुदायिक प्रयत्न के लिए अवकाश नहीं होता जैसा कि रंगमंच-प्रयुक्त नाटक के लिए होता है। समष्टि या जनसमुदाय के क्षेत्र की वस्तु नाटक है, इसमें आरम्भ से ही एक भाषा का दूसरी भाषा में अनुवाद किया जाता है, जिसे हम नाट्य-भाषा कह सकते हैं। प्रस्तुत 'अनुवाद' नाट्यभाषागत तत्त्वों को जानने के लिए प्रेरित करता है। रंगमंच-प्रयुक्त नाटक की सफलता का सार इसी में है कि उसमें एक साधारण भाषा के अंश को रंगमंचीय भाषा में अनूदित कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया में कवि के विचारों को अविकृत रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक होता है जैसा कि श्रव्य काव्य की आधारभूत साधारण भाषा के लिए भी आवश्यक है। अधिकांश आलोचक भूल जाते हैं कि रंग-मंचीय नाटक का सार तत्त्व कवि-मनोभावों को रंगमंचीय भाषा में अनू-दित करने में ही निहित है। इसके बिना रंगमंचीय नाटक केवल काव्य या उपन्यास मात्र होगा। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को भुला देने के कारण ही वे नाटक को भी अन्य काव्य-प्रकारों के समकक्ष समझने लगते हैं। चाहे कोई भी कारण रहा हो आचार्य अभिनवगुप्त ने भी यही गलती की है। यह नहीं भुलाना चाहिये कि इस नाट्य भाषा में नाटक, चाहे मूल रूप में हो या पाठ्य रूप में हो (इसमें इतिवृत्त और दशरूपक के किसी भी रूप का अन्तर्भाव हो सकता है) एक ही तत्त्व है और जो रंगमंच का ही एकमात्र भाग रहता है। यह मूल वस्तुरूप है, जिसे एक भिन्न आकार प्रदान करना अपेक्षित होता है।

यह 'आकार' या रूप हमें नाटक के एक भिन्न क्षेत्र में ले जाता है। जहाँ कहीं मैं 'नाटक' शब्द का प्रयोग करता हूँ वहाँ इसका अर्थ रंगमंच-प्रयुक्त नाटक से ही समझना चाहिये। भरत ने नाटक की व्याख्या अनुकरण के रूप में की है। यह ध्यान देने की बात है कि इसमें न कवि अनुकरण करता है और न नट जो इसे प्रस्तुत करता है (जैसा कि कवि प्रस्तुत करता है)। मैं इस बात से परिचित हूँ कि कवि अनुकरण करता है और कलाकार प्रस्तुत करता है, परन्तु इस प्रकार की रचना में 'अनु-

करण' और 'प्रस्तुतिकरण' को किंचित् भिन्न अर्थ में प्रयुक्त किया गया है)। कवि या कलाकार से कला की वस्तु के रूप में संक्रमण की तथा वहाँ से दर्शक या श्रोता तक पहुँचने की एक भिन्न प्रक्रिया है (मैं इसे समतल विकास की प्रक्रिया कहूँगा) और यह सभी कलाओं के लिए सामान्य है। इस प्रक्रिया के अतिरिक्त नाटक में एक अन्य प्रक्रिया होती है, जिसे ऊर्ध्व विकास की प्रक्रिया कहा जा सकता है, इसमें किसी आदर्श या वास्तविकता का अनुकरण किया जाता है। मुझे पूर्णतः विदित है कि यह ऊर्ध्व विकास की प्रक्रिया बहुत जटिल है और इसमें अनुकरण शब्द का प्रयोग खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि इसका प्रयोग अनेक रूपों में होता है। 'अनुकरण' शब्द आत्मपरक प्रक्रिया पर अधिक बल देता है। परन्तु जब कोई अनुकरण करता है तब वहाँ मूल वस्तु भी होती है जिसका अनुकरण होता है। अन्य शब्द के अभाव में हम इसे 'अनुकृत' शब्द से व्यवहृत करें, जो कि मूल का हू-बहू चित्र या प्रतिलिपि होती है। नाटक में यह प्रक्रिया एक बहुत महत्त्वपूर्ण तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है। परन्तु यह पुनः ध्यान देने की बात है कि यह प्रक्रिया केवल नाटक के लिए ही विशेष रूप से लागू नहीं होती वरन् यह बिना किसी कठिनाई के प्राकृतिक दृश्य के चित्र, आकृति-चित्र तथा मूर्तिकला पर भी लागू हो सकती है। इससे यह अन्तर करना आवश्यक हो जाता है कि एक कला वह है जो अमूर्त रूप ग्रहण करने की ओर प्रवृत्त होती है तो दूसरी वह है जो मूर्त रूप ग्रहण करने की ओर। अन्य कलाओं की अपेक्षा 'नाटक' ही अधिक से अधिक मूर्तता की ओर प्रवृत्त होता है और वास्तविकता का सच्चा गतिशील चित्र प्रस्तुत करता है।

यह एक समस्या को जन्म देता है। चित्र या अनुकरण किसे कहते हैं? मेरा विश्वास है कि चित्र वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करता है और जब वह पूर्ण बनता है तब वह अपनी जटिलता को भी कम कर देता है।

यदि ऐसा न हो तो यह उतना ही दुरूह होगा जितना कि मूल रूप में होता है और इसे प्रेषणीयता के माध्यम के रूप में प्रयुक्त करना कठिन हो जायेगा। 'सिनेमैटोग्राफी' का उदाहरण लेना उपयुक्त होगा। एक व्यक्ति दौड़ता हुआ दिखाया जाना है। हम उसकी प्रत्येक गति का चित्र

नहीं लेते और उसे परदे पर नहीं दिखाते वरन् हम कतिपय गतियों का चुनाव करते हैं और शेष को छोड़ देते हैं। परन्तु जब हम उसे परदे पर दिखाते हैं तब उसका समग्र प्रभाव दौड़ते हुए व्यक्ति का ही दिखाई देता है। इसमें एक प्रकार की समानता होती है। दौड़ने की क्रिया में निरंतरता प्रतीत होती है भले ही इसमें बीच-बीच में बहुत से अंश कम कर दिये गये हों। यही स्थिति चित्र, मूर्ति, नाटक आदि अनेक कलाओं में रहती है। यही कारण है कि कला जीवन का आंशिक उपस्थापन करती है। यह ध्यान देने की बात है कि कला शब्द का शाब्दिक अर्थ 'अंश' ही है। अभिनवगुप्त ने अपने साधारणीकरण सिद्धान्त में इस प्रक्रिया का भली प्रकार से वर्णन किया है। स्वयं भरतमुनि भी अनुकरण के परिणामों से भली प्रकार परिचित थे। मेरे विचार में भरत ने अनुकरण के तत्त्वों का निम्न चार शीर्षकों में वर्णन किया है—१. रस, २. धर्मी, ३. वृत्ति और ४. प्रवृत्ति। रस-विवेचन को अभी छोड़ देता हूँ क्योंकि यह विवादास्पद विषय है और शेष तीन का ही यहाँ उल्लेख करता हूँ।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, चाहे कोई भी कारण हो 'अनुकरण' में मूल के प्रत्येक तत्त्व को प्रस्तुत करना कठिन है। अनेक कारणों में से यह एक है कि अनुकरण के लिए एक स्वाभाविक कठिनाई उपस्थित होती है। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति की फाँसी का अथवा किसी विषम दुर्घटना का वर्णन करना हो तो इसका यथावत् अनुकरण कर दिखाना असम्भव हो जायेगा। (परन्तु अब फोटोग्राफी की सहायता से यह दिखाना सम्भव हो गया है।) अतः नाटक में इस प्रकार के तत्त्वों को केवल प्रतीकात्मक ढंग से समझाया जाता है। विक्रमोर्वशीय नाटक में रथ आकाशमार्ग से जाता है। कालिदास ने जब नाटक लिखा उस समय इस रूप में इसका चित्रण कर दिखाना असम्भव था। इसी प्रकार जब नट स्वगत भाषण करते हैं, तब उसे श्रोतागण भी सुन लेते हैं। परन्तु यह परिपाटी चली आ रही है कि इसे अन्य नटों के द्वारा न सुना गया समझा जाय। अतः भरतमुनि ने अनुकरण के उन सभी तत्त्वों को जिन्हें प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, नाट्यधर्मी नाम दिया है। और इसके अतिरिक्त जो तत्त्व वास्तविक जगत् और अनुकरण में सामान्य

हैं उन्हें लोकधर्मी कहा है।[1]

यहाँ अनुकरण के विषय में दो प्रश्न उपस्थित होते हैं—१. किसका और क्या अनुकरण किया जाता है ? तथा २. किस प्रकार से अनुकरण किया जाता है ? अर्थात् मूल से कौन से ग्राह्य तत्त्व हैं, जिनसे अनुकरण हो सकता है ? परन्तु इससे हम प्रथम प्रश्न पर विचार करने लगते हैं। अनुकरण के भिन्न-भिन्न तत्त्वों को स्वीकार करने पर भी इन तत्त्वों को एक विशिष्ट पद्धति से प्रस्तुत किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार एक ही मूल विचार भिन्न-भिन्न बोलियों में व्यक्त किया जा सकता है और अर्थ में कोई भिन्नता नहीं आती उसी प्रकार अनुकरण को भिन्न-भिन्न मार्गों में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके अनेक प्रकार हो सकते हैं। निस्सन्देह ये प्रकार अभिनय के होते हैं। परन्तु ये मूल रूप के भी इसी मात्रा में प्रकार होंगे। भरत ने इस तथ्य को भली भांति समझ लिया था। विभिन्न लोगों की शैली या संकेत-पद्धति में ही इन मूल प्रकारों का अस्तित्व होता है। अतः भरत ने विभिन्न लोगों के सामान्य जीवन में उपलब्ध भिन्न-भिन्न मार्गों का उल्लेख किया है जिसे उन्होंने प्रवृत्ति संज्ञा दी है—

"अत्राह। प्रवृत्तिः इति कस्मात्। उच्यते। नाना देश वेष भाषाचार वार्ताः ख्यापयति इति प्रवृत्तिः। प्रवृत्तिश्चनिवेदनैः। अत्राह—यथा पृथिव्यां नाना देशाः सन्ति, कथमासां चतुर्विधत्वम् उत्पन्नम्, समान लक्षणश्चासां प्रयोग उच्यते। सत्यमेतत् समान लक्षणः प्रयोगः। किन्तु नानादेशवेष भाषाचारो लोकः इति कृत्वा लोकानुमतेऽनुवृत्तिसंश्रितमस्यमया चतुर्विधत्वमभिहितं भारती आरभटी सात्वती कैशिकी च इति। वृत्ति संश्रितेषु अमीषु प्रयोगेषु अभिरतादेशाः, यत् प्रकृति चतुष्टयम् अभिनिवृत्तम् प्रयोगश्चोत्पादितः। तत्र दाक्षिणात्या स्तावत्, बहु भीत नृत्यवाद्या कैशिकीप्रायाश्चतुर मधुर ललितांगाभिनयाश्च।"[2]

यदि विभिन्न लोगों की विशिष्ट पद्धतियों या रीतियों के आधार पर उनके कार्य या अनुकरण का वर्गीकरण किया जा सकता है तो उनके

---

१. नाट्यशास्त्र, १३।६५-७६ तथा २१।१८९-१९३, निर्णयसागर सं०

२. नाट्यशास्त्र, पृ० २१६, निर्णयसागर सं०

कार्यों को सामान्य रीति या पद्धति के अन्तर्गत भी लाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, प्रवृत्तिगत प्रान्तीय विभिन्नताओं के होते हुए भी एक विशिष्ट स्थिति में स्त्री की प्रतिक्रिया अनिवार्यतः एक जैसी ही होगी। एक व्यक्ति से प्रेम करती हुई स्त्री उसे देखने के लिए उत्सुक हो सकती है, और प्रियदर्शन की लालसावश सुन्दर वेश-भूषा धारण कर सकती है। यह वेशभूषा प्रान्तानुरूप परिवर्तित हो सकती है। यहाँ तक कि व्यक्ति के अनुरूप भी इसका परिवर्तन हो सकता है। परन्तु इस विभिन्नता के मूल में दृष्टिकोण अनिवार्यतः एक ही होता है। क्योंकि ये सार्वत्रिक या 'समानलक्षण' होता है। 'समानलक्षण' का प्रस्तुत स्वरूप अनिवार्यतः मनोवैज्ञानिक होता है और जब यह व्यवहार रूप में प्रतिफलित होता है तब इसे 'वृत्ति' कहा जाता है। भरतमुनि ने इसे चार प्रकारों में वर्गीकृत किया है—भारती, आरभटी, सात्वती और कैशिकी। प्रथम तीन स्त्री और पुरुषों की प्रतिक्रियाओं से सम्बद्ध हैं। अन्तिम का सम्बन्ध केवल स्त्रियों से है। नाटक अथवा अनुकरण के क्षेत्र में इन वृत्तियों का तात्पर्य होगा मानसिक गुणों को कार्य या व्यवहार में प्रदर्शित करना। वृत्तियां कृतक रूप को या नाट्यधर्मी तत्त्वों को भी उपस्थित करती हैं। उदाहरणार्थ, भारती वृत्ति का स्वरूप वाक्-प्रधान होता है। परन्तु भरत ने इसे संस्कृत वाक्यावली-युक्त भी माना है। यह परिभाषा संस्कृत नाटकों की परम्परा का ही प्रतिनिधित्व करती है, यह वृत्ति का एक अनिवार्य रूप नहीं हो सकता।

नाटक अथवा अनुकरण इन सभी वृत्तियों और प्रवृत्तियों का प्रदर्शन मात्र नहीं होता, वरन् इसमें इनका संगठन या चुनाव किया जाता है। इनके व्यवहार पक्ष का वर्गीकरण करते हुए तथा इनके प्रान्तीय भेदों को बताते हुए भरत ने कहा है कि एक ही वस्तु विभिन्न मार्गों में प्रदर्शित की जा सकती है। वृत्ति और प्रवृत्तियों से सम्बद्ध समस्याएं एक जैसी ही हैं। हम व्यक्तिगत भिन्नताओं को त्याग सकते हैं और उनके सार्वत्रिक रूप को ग्रहण कर सकते हैं। यही अभिनवगुप्त का साधारणीकरण है।[1] परन्तु यह साधारणीकरण का सिद्धान्त वस्तु के उपस्थापन की प्रक्रिया पर ही नहीं घटता वरन् वस्तु पर भी घटता है जिसे प्रदर्शित किया जाता

---

१. साधारणीकरण या सार्वत्रीकरण की प्रत्येक पग पर आवश्यकता होती है।

है। यदि राम का चरित्र प्रदर्शित करना है तो जिस प्रतिरूप का अनुकरण किया जाता है उसे अनिवार्यतः मूल राम होना आवश्यक नहीं है। वह कोई भी गुणवान् और वीर व्यक्ति या राजा हो सकता है। चुनाव करने की या छोड़ने की प्रक्रिया यहाँ भी काम करती है जैसी कि अन्यत्र आवश्यक होती है। न केवल प्रतिरूप (माडल) ही भिन्न हो सकता है, वरन् नट भी भिन्न हो सकता है। इसके अतिरिक्त वे भिन्न प्रकार की वेशभूषा धारण कर सकते हैं, भिन्न प्रकार से कार्य कर सकते हैं और जिस वातावरण में वे कार्य कर दिखाते हैं वह भी भिन्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। जब एक नट राम का अभिनय करता है या अनुकरण करता है तब मूल में और अनुकरण में एकांत समता संभव नहीं हो सकती। विभिन्न प्रान्तों के और भिन्न-भिन्न समयों के नट न केवल भिन्न-भिन्न रूप में अभिनय करते हैं वरन् वे राम के व्यवहारगत भिन्न-भिन्न तत्त्व चुन लेते हैं जिससे राम का नाटक खेल सकें।

प्रथम क्रियातत्त्व है जो वृत्तियों और प्रवृत्तियों से सम्बद्ध है और द्वितीय मूलभूत या आधारभूत तत्त्वों से सम्बद्ध है। यह ध्यान देने की बात है कि नाटक में प्रायः अनुकरण सामान्य तत्त्वों पर आधृत होता है न कि विशिष्ट। क्योंकि विशिष्ट तत्त्व आस्वाद के बिना किसी अन्य साधनों से नहीं जाने जा सकते। और लगभग शतप्रतिशत अवस्थाओं में भी इसकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि मूल या तो काल्पनिक होता है अथवा ऐतिहासिक व्यक्ति होता है। भरत के मस्तिष्क में केवल सार्वत्रिक या सर्वसामान्य तत्त्व था जबकि उन्होंने अनुकरण की बात कही है और इसी तत्त्व की वे एक कुशल नट में अपेक्षा रखते थे।[1]

मैं ऊपर अभिव्यक्ति और अभिव्यक्त-तत्त्वों का उल्लेख कर चुका हूं और यह भी बता चुका हूं कि वृत्तियों और प्रवृत्तियों का रंगमंचीय नाटक की अभिव्यक्ति-पद्धति से सम्बन्ध है। परन्तु यह अपने आप में पूर्ण सत्य नहीं है। जिस किसी पद्धति से मूलवस्तु अभिव्यक्त की जाती है उसका भी अपना एक आकार होता है जिसे भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियों से प्रदर्शित किया जाता है। वास्तव में किसी भी रंगमंच-प्रयुक्त नाटक में इस

---

१. नाट्यशास्त्र, २४।७४-७६, निर्णयसागर

मूलवस्तु का ही विशेष महत्त्व होता है। दिग्दर्शक की अभिलाषा वस्तु (जो प्रायः कहानी रूप होती है) के उपस्थापन की रहती है, जिसे इस विशिष्ट आकार के अन्तर्गत ही ग्रहण करना चाहिए। अतः यह विशिष्ट आकार ही प्रेषणीयता के तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है और यही नाट्यकला की आत्मा है। जब हम अनुकरण की बात करते हैं तब हमारा आशय इसी आकार (फार्म) तत्त्व से होता है और मेरा यह मत है कि भरतमुनि ने इस आकार[1] को 'रस' संज्ञा दी है। परन्तु इसका विवेचन मैं बाद में करूंगा। इस आकार का अध्ययन दो भिन्न-भिन्न पक्षों में किया जा सकता है। या तो यह केवल वस्तुरूप या निष्क्रिय होगा अथवा आत्मरूप या क्रियात्मक होगा। निष्क्रियता के पक्ष में इसका स्वरूप अनुक्रियामाण वस्तुरूप होगा और क्रियात्मकता के पक्ष में स्वयं अनुकरण स्वरूप होगा। मैं जो कुछ कहना चाहता हूं इसका आशय दो भिन्न-भिन्न कलाओं—चित्र और नाटक की—तुलना से अधिक स्पष्ट हो सकेगा। चित्र वैसी ही एक कला की वस्तु है जैसा कि रंगमंच-प्रदर्शित नाटक होता है। परन्तु चित्र के विषय में यह कहना सार्थक नहीं होगा कि वह मूल का 'अनुकरण' करता है। केवल चित्रकार ही अनुकरण कर सकता है चित्र नहीं, क्योंकि चित्र कर्ता नहीं है, वरन् वस्तुरूप है। दूसरी ओर नाटक के विषय में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि उसमें अन्य तत्त्व अर्थात् नट अनुकरण करते हैं। यह केवल इसलिए सम्भव है क्योंकि नाटक में निर्मित-तत्त्व क्रियात्मक होता है। प्रथम निर्माता नाटककार होता है, द्वितीय दिग्दर्शक होता है और तीसरा स्थान नट का है। जहाँ तक चित्र, मूर्ति और कविता का सम्बन्ध है, इनमें सारा काम एक ही व्यक्ति कर देता है। निस्सन्देह जिस प्रकार से कविता या चित्र में कलावस्तु का वस्तुरूप में विवेचन हो सकता है उसी प्रकार नाटक में भी कलावस्तु—रंगमंच-प्रयुक्त नाटक का वस्तुरूप में विवेचन हो सकता है। यदि कवि को प्रथम निर्माता मानें तो इस प्रकार कहा जा सकता है—क१, फिर क२ अर्थात् दिग्दर्शक और क३ अर्थात् नट। इसके साथ ही जुड़े हुए प्रदर्शित दृश्यों को भी कलात्मक वस्तुरूप समझा जा सकता है। इस

---

१. 'आकार' या रूप

निर्माता से लेकर आगे के सभी तत्त्वों को कलात्मक वस्तुरूप में ग्रहण किया जा सकता है। इसे निम्न विधि से प्रस्तुत किया जा सकता है—

।क१ ।क२ ।क३ ।फ। । । ।, यहाँ 'फ' कार्य को छोड़ कर अन्य सभी तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार ।क१ ।क२ ।क३ ।फ। निष्क्रिय कलात्मक वस्तु होगी और क२ ।क३ ।फ। कलात्मक वस्तु होगी तथा क३, के लिए ।फ। कलात्मक वस्तु होगी।

यहाँ दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। सर्वप्रथम नाटक के विषय में देखें तो कलावस्तु को क१ और क२ से भिन्न किया जा सकता है परन्तु इसे क३ से सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि 'फ' को एक अविभाज्य तत्त्व नहीं समझना चाहिए भले ही अपने आप में यह एक बहुत जटिल तत्त्व है। मैं बलपूर्वक कहना चाहता हूं कि नाटक एक जटिल और निराली कला है। इसमें रंगमंच पर भी निर्माण का क्रम चलता रहता है। ऐसी स्थिति में सक्रिय तत्त्व भी पूर्वावस्था या प्रसंग को ध्यान में रख कर निष्क्रिय (Passive) रूप में ग्रहण किये जाते हैं। इस प्रकार कलाकार की दृष्टि से परवर्ती तत्त्व, जो प्रेषणीयता का स्वरूप ग्रहण करते हैं, निष्क्रिय कलावस्तु रूप होते हैं और वे मूल का अनुकरण या चित्र रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं भले ही इसमें नट मूल की अनुकृति लाने के लिए सक्रिय अनुकरण करते हों। अनुकृत रूप जो यह कलावस्तु है वह कविमानस की बाह्य सृष्टि है और जो आन्तरिक भावना का रूप है वह इस बाह्य मानस-सृष्टि का अनुवाद है।

यह ध्यान देने की बात है कि अपनी विशिष्टताओं के कारण कला दो भागों में विभक्त हो जाती है। चित्रकला जैसी कलाओं में प्रशिक्षण और कलावस्तु के लिए पर्याप्त अवसर होता है और कुछ सीमा तक यह कला सुनिश्चित प्रक्रिया का परिणाम होती है। इस प्रकार की कलाओं में प्रेषणीयता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाती है। दूसरी ओर कविता जैसी कला में इस प्रकार का अवसर नहीं होता। इस प्रकार की कलाओं की प्रेषणीयता की शक्ति समाज की सांस्कृतिक अवस्थाओं पर आधृत होती है और भाषा के सामान्य विकास के आधार पर निर्धारित की जाती है। इस प्रकार की कलाएं स्वभावतः अमूर्त प्रतीकात्मक होती हैं और इनकी प्रेषणीयता अर्थ का आधार ग्रहण कर संक्रमित होती जाती है। अर्थ

भी एक प्रकार से प्रेषणीयता के लिए प्रतीक का प्रतिनिधित्व ही करता है। कला का ही एक रूप नाटक भी है और यह इन दोनों प्रकार की कलाओं के स्वरूप का प्रदर्शन करता है। इसका सर्वाधिक बल प्रदर्शन और उपस्थापन पर होता है और यह उचित भी है। परन्तु जहाँ तक इसके कविता के रूप का सम्बन्ध है यह कतिपय सुनिश्चित अर्थों का निर्माण करता है। यदि उपस्थापन का तात्पर्य केवल शारीरिक संकेतों से ही हो और उससे किसी प्रकार का अर्थसंवहन न हो तो कला के मूल उद्देश्य की ही इतिश्री हो जायेगी। इस प्रकार प्रतीकात्मक उपस्थापन और अर्थ का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और एक के बिना दूसरे पर विचार करना भी कठिन हो जाता है। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि एक प्रकार का प्रतीकात्मक उपस्थापन अनेक अर्थों का संवहन कर सकता है। कभी-कभी अप्रमुख अर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण आशय को संप्रेषित करता है। इससे सौन्दर्य का आस्वादन, पूर्ण समाधान की स्थिति, विरेचनजन्य सुख (कथार्सिस) अथवा आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। निश्चय ही यह कला कला का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है। इस प्रकार कला के प्रतीकों से सुनिश्चित अर्थ-तरंगों का निर्माण होता है। इनमें भी सौन्दर्य, आनन्द तथा विरेचनजन्य सुख (कथार्सिस) का अन्तर्भाव होता है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि कला आस्वाद योग्य बनती है तो उसके लिए यही पद्धति अपनानी होगी। अभिनवगुप्त और उनके कतिपय अनुयायियों का यह चिन्तन कि काव्यकला का निर्माण ब्रह्मास्वाद सहोदर, लोकोत्तर आनन्द के लिए होता है, समीचीन प्रतीत होता है। परन्तु भरतमुनि के अनुसार यह भी कला का ही एक प्रयोजन है। यदि भरत के वचनों का ठीक-ठीक आशय निकाला जाय और उनका गलत अर्थ निकालने का प्रयत्न न किया जाय तो यही बात सिद्ध होगी। मेरे विचार में भरतमुनि ने इस तथ्य को नितान्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि नाटक का रंगमंच पर प्रयोग 'सिद्धि' के लिए किया जाता है।

यस्मात्प्रयोगः सर्वोऽयं सिद्ध्यर्थः संप्रदर्शितः।[1]

यह विशेष रूप से ध्यान देने की बात है कि भरतमुनि ने प्रस्तुत

---

१. नाट्यशास्त्र, १।२७

'सिद्धि' तत्त्व का बार-बार उल्लेख किया है। नाट्यशास्त्र के सातवें अध्याय के २७वें श्लोक में स्पष्ट लिखा गया है कि नाट्य-प्रक्रिया में अन्तिम अवस्था सिद्धि की होती है। विस्मय स्थायीभाव का आस्वादन प्रेक्षकों द्वारा प्रहर्ष और पुलक के रूप में किया जाता है जो सिद्धि का ही स्थानापन्न है। इसी प्रकार सातवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में श्लेष रूप में 'सिद्धि' शब्द का प्रयोग किया गया है। इनके मत में जो व्यक्ति इस नाट्य-प्रक्रिया को भली प्रकार समझ लेता है उसे सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है।[1] भरतमुनि ने रस तथा भाव से नितान्त स्वतन्त्र और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में सिद्धि का स्पष्ट उल्लेख किया है—

रसा भावा ह्यभिनया धर्मी वृत्ति प्रवृत्तयः।
सिद्धिस्वरास्तथातोद्य एवं रंगस्य संग्रहः ॥[2]

अधिकांश लेखक यह भूल जाते हैं कि भरत ने नाट्य में 'सिद्धि' तत्त्व का पृथक् से उल्लेख किया है। भरत ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि आस्वादन का अन्तिम रूप सिद्धि का है और इसकी स्थिति प्रेक्षकों के मन में होती है। भरत ने प्रेक्षकों की परिभाषा भी विस्तार से दी है।[3] आनन्द से ही प्रेक्षकों को सिद्धि की प्राप्ति होती है और यह सिद्धि विभिन्न रसों के कारण जागृत होती है।[4] इससे स्पष्ट है कि भरत के मत में सिद्धि तत्त्व रस तत्त्व से भिन्न है और नाट्यकला का यह अन्तिम प्रयोजन या साध्य है। भरत ने सिद्धि के भी भिन्न-भिन्न वर्ग बनाये हैं। प्रथम का नाम मानुषी है तो दूसरी दैविकी कहाती है। प्रथम मानुषी के दस भेद हैं तो दैविकी के भी दो भेद बन जाते हैं—एक 'भावातिशयोपेता' होती है तो दूसरी 'समग्र शान्ति स्वरूपा'। नाट्य का प्रदर्शन इन दो प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति के लिए किया जाता है। भरत की नाट्यकला का वास्तविक रूप समझने के लिए सिद्धि-तत्त्व को समझना अत्यन्त आवश्यक है। मैंने इस तथ्य पर अपने रस-सम्बन्धी लेख में तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के अनुसंधान

---

१. य एवमेतान् जानाति सगच्छेत् सिद्धिमुत्तमाम्। नाट्य शा० अ० ७।१३०

२. नाट्यशास्त्र, अ० ६।१०

३. नाट्यशास्त्र २७।६-७-१६

४. वही, २७।७५

परिषद् में दिए गए भाषण में विशेष बल दिया था। कला के इस पक्ष पर अभिनवगुप्त ने भी ठीक ही बल दिया है; परन्तु न जाने किस कारणवश अभिनवगुप्त ने सिद्धि और रस-तत्त्व का समीकरण कर दिया है। यह ध्यान देने की बात है कि सिद्धि आस्वाद की अन्तिम अवस्था है और लौकिक वस्तु है। इस प्रक्रिया में अर्थग्रहण, आनन्द और सिद्धि आदि भिन्न-भिन्न तत्त्व मिल जाते हैं। यह प्रक्रिया अर्थग्रहण और आस्वादन की है। इस तथ्य से भरत भलीभांति परिचित थे। अन्यथा छठे अध्याय के आरम्भ में ही वे रस-निर्मिति तथा रसास्वाद की प्रक्रिया का उल्लेख न करते और यह भी नहीं कहते कि रस के बिना (उपस्थापन के बिना) नाट्य का अर्थ प्रदर्शित करना कठिन है।[1] दुर्भाग्यवश परवर्ती लेखकों ने रस का आशय लिया कि यह नाटक का अन्तिम साध्य है। यदि भरत की भी यही धारणा होती तो वे सिद्धि तत्त्व का पृथक् से उल्लेख ही नहीं करते।

यहाँ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है। अभिनवगुप्त जैसे विद्वान् और कला-समीक्षक ने नाट्य प्रक्रिया में रस तथा सिद्धि जैसे दो भिन्न-भिन्न तत्त्वों को एक ही में क्यों मिला दिया? इसके अनेक कारण हैं। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि नाटक में उपस्थापन की एक विशिष्ट पद्धति अपनानी पड़ती है और इसके बिना प्रेषणीयता सम्भव ही नहीं है। कविता में यह बात नहीं होती, वहाँ तो कवि का प्रतिपाद्य भाषा के माध्यम से प्रेषित कर दिया जाता है। अतः कविता में प्रेषणीयता के तत्त्व पर पृथक् से विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। यद्यपि अभिनवगुप्त ने पूरे नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी है तथापि इन्होंने नाटक के प्रयोग-पक्ष पर कुछ भी नहीं लिखा। इसको इन्होंने कविता का ही एक अंश समझ लिया। इस प्रकार से आस्वादन-पक्ष ही अधिक महत्त्वपूर्ण बनता गया। आस्वादन में 'आनन्द' तत्त्व का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता है और 'रसो वै सः', 'आनन्दात् एवहि इमानि भूतानि जायन्ते' आदि वचनों में रस का प्रयोग आनन्द के लिए ही किया गया है। अतः अभिनवगुप्त जैसे दार्शनिक

---

१. नहि रसादृते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्तते। ना० शा० अ० ६.

यदि इन दोनों तत्त्वों का एकीकरण कर दें तो इसमें अस्वाभाविकता की कोई बात नहीं है। विशेषतः जबकि इन्होंने रस की पृथक् स्थिति का अन्वेषण नहीं किया जो काव्य-प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व समझा गया था। यहाँ अनेक संभावनाएं हो सकती हैं। जिस समय अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी होगी उस समय इसका कुछ अंश लुप्त हो गया हो। और सिद्धि-तत्त्व को लोग भुला बैठे हों। यह भी सम्भव है कि अभिनव भारती के सम्पादक महोदय ने सम्पादन के समय इन दोनों तत्त्वों को एक मान लिया हो और इसे अभिनवगुप्त-सम्मत ठहरा दिया हो। चाहे जो भी कारण हो, तथ्य यह है कि अभिनवगुप्तोत्तर युग में रस और आनन्द का समीकरण कर दिया गया था। चूंकि रस का स्वरूप सिद्धि के नितान्त सदृश है अतः रस को सिद्धि का ही स्थानापन्न मान लिया गया और सिद्धि को काव्यास्वादन के सिद्धान्त से बहिष्कृत कर दिया गया। मेरे विचार में इस परिवर्तन में दो महत्त्वपूर्ण तथ्य काम कर रहे हैं। एक कारण तो यह है कि चिरकाल तक भारतीय विचारधारा पर अद्वैत दर्शन का प्रभुत्व बना रहा। इसके अनुसार इस जगत् में एक ही सार तत्त्व है और इसका स्वरूप रस या आनन्द जैसा है। रस और आनन्द शब्दों के समीकरण ने बड़ी सरलता से रस को एक नवीन सिद्धान्त का रूप दे दिया। निस्सन्देह रस का यह रूप भरत-निरूपित 'सिद्धि' तत्त्व में अन्तर्भूत है।

विचार-परिवर्तन का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि स्वयं नाट्यशास्त्र में ही ऐसे कतिपय स्थल हैं जो अस्पष्ट हैं और जिनका स्वेच्छानुसार अर्थ निकाला जा सकता है। उदाहरणार्थ भरत ने कहा है कि स्थायीभाव ही रस बन जाते हैं।[1] इसी प्रकार एक और प्रश्न उठाया गया कि रस भावों से उत्पन्न होते हैं अथवा भाव रसों से ? भरत ने एक स्थान पर इसका उत्तर दिया है कि रस भावों—स्थायी भावों से उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार भरत के अनुसार कहा जाता है कि प्रेक्षक स्थायी भावों का आस्वाद लेते हैं।[2] इन अनेक वचनों से यह

---

१. स्थायिभावा रसत्वमाप्नुवन्ति, अ० ६.

२. स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः। अ० ६

भ्रान्त धारणा बना ली जाती है कि स्थायीभाव प्रेक्षक की एक प्रकार की मन:स्थिति या मनोभावात्मक अवस्था का नाम है। यही विकसित होकर रस रूप में परिणत होती है जो कि एक स्थिर वृत्ति रूप है। भरत ने दैवी सिद्धि के एक प्रकार को 'भावोपेता' कहा है जो भाव रूप ही है। और यह स्पष्टत: स्थायी भावात्मक ही है। अत: इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि स्थायीभाव प्रेक्षक की मनोभावात्मक स्थिति है और रस इसके उपरान्त की स्थिति का नाम है। परिणामत: प्रेक्षक के आनन्द के अतिरिक्त रस का स्वरूप ही नहीं हो सकता परन्तु प्रस्तुत तर्क निम्न कारणों से असंगत है।

(१) जो समीक्षक प्रस्तुत तर्क उपस्थित करते हैं वे भरत-निर्दिष्ट रस-निर्माण की प्रक्रिया और रसास्वादन की प्रक्रिया को परस्पर मिला देते हैं। रस-निर्माण की प्रक्रिया से सम्बद्ध वचनों को रसास्वादन की प्रक्रिया की पुष्टि में प्रस्तुत किया ज़ाता है। (२) दूसरा कारण भरत के वचनों को प्राय: अपूर्ण रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणार्थ भरत का वचन केवल इतना ही नहीं है कि 'स्थायिभावानास्वादयन्ति' वरन् इसके साथ ही 'वागंगसत्वोपेतान्' विशेषण भी जुड़ा हुआ है। इस विशेषण से सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ ही बदल जाता है। इसी प्रकार भरत का केवल इतना ही वचन नहीं है कि 'स्थायिभावान्बुद्धा अस्वादयन्तिमनसा' वरन् 'भावाभिनय संबद्धान् स्थायिभावान्बुद्धा आस्वादयन्ति मनसा' यह उक्ति है।[1] यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि विशेषणों से वाक्य का आशय ही बदल जाता है। श्री यज्ञेश्वर शास्त्री कस्तुरे के मत में उपर्युक्त उक्ति में 'मनसा' शब्द का प्रयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे मानसिक स्थिति का संकेत मिल जाता है। परन्तु यह कथन असंगत है, क्योंकि मन केवल मनोभाव का ही आस्वाद करे यह आवश्यक नहीं है। इस प्रसंग का विस्तार से आगे विवेचन किया जायेगा। प्रस्तुत विवेचन स्थायीभाव के स्वरूप और उनकी वास्तविक स्थिति जानने के लिए प्रेरित करता है।

चाहे जो भी कारण रहा हो 'भाव' और 'स्थायीभाव' के स्वरूप

---

१ नाट्यशास्त्र [illegible]

निरूपण से सम्बद्ध वचन नाट्यशास्त्र में पर्याप्त अस्पष्ट हैं। इससे बहुत अधिक भ्रम उत्पन्न हुआ है। परिणामत: विभिन्न दार्शनिकों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप रस और भावों की अलग-अलग व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। नाट्यशास्त्र में प्रथमत: भाव शब्द का प्रयोग नृत्य और अभिनय से सम्बद्ध कतिपय शारीरिक अभिव्यक्तियों के लिए हुआ है। इन्हें 'हाव', 'भाव' और 'हेला' नाम दिया गया है। इसकी व्याख्या में कहा गया है कि इनसे कवि का आन्तरिक भाव प्रदर्शित होता है।[1] वस्तुत: ये भाव नाट्य और नृत्य से सम्बन्धित शिल्पविधिगत अभिव्यक्तियां हैं। भाव की उत्पत्ति सत्त्व से मानी गई है और सत्त्व भी शरीर से ही उत्पन्न होता है। भरतमुनि जानते थे कि भाव का प्रयोग अन्य अर्थ में भी होता है। इसका महत्त्व सामान्य भाषा में भी है और वास्तविक जगत् में भी है। इस प्रकार उपर्युक्त उक्ति 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते' में प्रथम 'भाव' शब्द वास्तविक स्थिति को बताता है न कि नाट्यगत। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि इसमें कवि के आन्तरिक मनोभाव से ही इसका सम्बन्ध है जैसा कि स्पष्ट उल्लेख किया गया है। परन्तु सभी अवस्थाएं मानसिक ही हों यह आवश्यक नहीं है। भरत के अनुसार भाव एक विशिष्ट मूर्त पदार्थ है जो 'भरा होता है'। नाट्यशास्त्र के सातवें अध्याय के आरम्भ में भरत ने लिखा है कि 'भू' धातु का अर्थ बनाना, प्रदर्शित करना और भरना है। अत: भाव का अर्थ 'भावित', 'वासित' या 'कृत' है। इस प्रकार भाव आशय अथवा अभिव्यक्तियों का द्योतक है, इसे चाहे नाटक में लें, किसी अन्य कला में अथवा वास्तविक जगत् में।

नाट्यशास्त्र में स्थायीभाव की कहीं भी परिभाषा नहीं दी गई है। विभिन्न तत्सदृश उदाहरणों से इसकी व्याख्यामात्र की गई है। इसमें कहा गया है कि व्यभिचारी भाव और स्थायी भावों में अनिवार्यत: कोई भिन्नता नहीं होती, जिस प्रकार राजा और उसकी प्रजा सारे ही मनुष्य होते हैं। फिर भी इनमें से थोड़े ही भाव स्थायीभाव बनते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि भरत के अनुसार उन्होंने स्थायी भावों का

---

१. नाट्यशास्त्र, अ० ८, २२ और ७।२.

लक्षण पहले ही दे दिया है 'लक्षणं खलु पूर्वमभिहितम्'[1] परन्तु यह लक्षण कहीं भी देखने में नहीं आता। निश्चित लक्षण के अभाव में स्थायीभाव के लक्षण के विषय में विभिन्न कल्पनाएँ ही की जा सकती हैं। कुछ प्रयत्न करने से स्थायीभाव का स्वरूप समझा जा सकता है। संगीत में भी स्थायी शब्द का प्रयोग मिलता है। 'संगीत रत्नाकर' ने इसकी परिभाषा दी है, भरत ने भी संगीतगत 'स्थायी' शब्द का प्रयोग किया है। स्थायी का अर्थ स्थिर अर्थात् अपरिवर्तनशील ध्वनि है।[2] इसके विपरीत संचारी वह है जो आता है और चला जाता है।[3] 'स्थायी' और 'संचारी' की प्रस्तुत परिभाषाएँ स्थायीभाव के स्वरूप को समझने में सहायक होनी चाहिएँ। स्थायी भाव उस 'भाव' को मानना चाहिए जिसका आशय या अर्थ निरन्तर बना रहता है। नाटक के प्रसंग में स्थायीभाव का ठीक-ठीक अर्थ यह होगा कि वह स्थिर भाव या आशय जो रंगमंच से निरन्तर सम्बद्ध रहता है। यह विशेष रूप से ध्यान देने की बात है कि सामान्य भाषा के समान नाटक में भी कतिपय प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों का अर्थ भी निकलता है। यदि इन दोनों का बराबर संयोग न हो तो सब कुछ निरर्थक हो जाएगा। यह आश्चर्य की बात है कि अनेक लेखक इस तथ्य को भुला देते हैं कि भरत ने बार-बार 'अर्थ' और संज्ञा शब्दों का प्रयोग किया है और कहा है कि स्थायी भावों की ही रस संज्ञा होती है अर्थात् उन विशिष्ट अर्थों के लिए रस प्रतीक रूप है।[4] इसी प्रकार उन्होंने नाट्य के विषय में कहा है कि बिना रस के कोई भी भाव या 'अर्थ' ग्राह्य नहीं हो सकता। 'नहि रसादृते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्तते।' स्थायीभाव के निरूपण-प्रसंग में इन्होंने पुनः अर्थ शब्द का प्रयोग किया है—'योऽर्थो हृदय संवादी तस्य भावो रसोद्भवः'।[5] यदि इस तथ्य को ध्यान में रखा जाय तभी नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय के ३९वें श्लोक का आशय स्पष्ट हो सकता है कि (आस्वादक के लिए) अर्थों अथवा भावों

---

१. नाट्यशास्त्र, पृष्ठ १०७

२. स्थिराः स्वराः समायत्र स्थायी वर्णः स उच्यते। नाट्य० अ० २९।१९

३. वही, २९।३६

४. वही, पृष्ठ ११२

५. ना० शा० ७, ७

की उत्पत्ति रस से होती है। यह दुर्भाग्य की बात है कि प्रायः प्रत्येक लेखक यही सोचता है कि स्थायीभाव का अभिप्राय विशिष्ट मानसिक स्थिति या स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट) से है। मैं भी इन लेखकों से प्रभावित होकर सोचता था कि स्थायीभाव मानसिक स्थिति का निर्देश करते हैं। इस तथ्य को भुला दिया गया था कि भरतमुनि का उद्देश्य काव्य-रचना की प्रक्रिया समझाना नहीं है। वे तो केवल रंगमंचगत प्रेषणीयता की प्रक्रिया का वर्णन कर रहे हैं। भले ही यह प्रक्रिया काव्य-रचना प्रक्रिया से मिलती-जुलती हो। परन्तु इस स्थिति में भी कविता ग्राह्य होती है और इसका रंगमंच की भाषा में रूपान्तर किया जाता है। यह विशेष रूप से ध्यान देने की बात है कि भरतमुनि ने रंगमंच से सम्बन्धित तत्त्वों की 'संग्रह' नाम से सूची प्रस्तुत की है। प्रत्येक प्रतीक या कला-वस्तु का कोई न कोई अर्थ होता है। परन्तु रंगमंच पर विभिन्न कला-वस्तुओं से एक अर्थ-संहति की प्रतीति होती है। प्रस्तुत अर्थ-संहति जो कि नाटक को एक प्रकार की अर्थवत्ता प्रदान करती है, स्थायीभाव कहलाती है। जिस प्रकार बोलचाल की भाषा में वाक्य का अर्थ शब्दों के अर्थों से भिन्न होता है उसी प्रकार नाटक की भाषा में कला-वस्तुओं की समग्रता से एक समन्वित अर्थ की प्रतीति होती है, जिसे स्थायीभाव कहा जा सकता है। ज्ञानात्मक या अर्थात्मक स्वरूप होने से स्थायीभाव का सम्बन्ध एक ओर तो रंगमंचीय प्रतीकों से है तो दूसरी ओर प्रेक्षकों से। भरतमुनि इस तथ्य से पूर्णतः अवगत थे।[1] इसी से यह हृदय संवादी बन जाता है। नाट्यशास्त्र के आठवें अध्याय के ५२वें श्लोक से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है कि नाट्यगत स्थायीभाव का संबंध रंगमंच से है।

तथापि यह नहीं भुलाना चाहिए कि स्थायीभाव का स्वरूप अर्थात्मक है। उसमें प्रतीक या कलावस्तु के रूप में कलाओं के अनुरूप परिवर्तन आता है। परन्तु विभिन्न कला-वस्तुओं से उत्पन्न अर्थ एक ही हो सकता है। इस प्रकार नाट्य के प्रसंग में स्थायीभाव रंगमंचगत प्रतीक-संहति-जन्य अर्थ का नाम है। यह अर्थ भी अनिवार्यतः उसी प्रकार का होता

---

१. ना० शा० २७।८७

है जैसा कि नाट्यकाव्य में निहित होता है, जिसे रंगमंच पर प्रदर्शित किया जाता है। इसी कारण 'काव्यार्थ' को भी स्थायीभाव के रूप में लिया जाता है। काव्य का अर्थ और रंगमंच-प्रदर्शित काव्य का अर्थ एक समान ही होता है। एक प्रकार से काव्यार्थ को हम रंगमंचीय प्रतीकों में परिवर्तित करते हैं और फिर इन रंगमंचीय प्रतीकों से ही हम अर्थ-ग्रहण करते हैं। इससे स्पष्ट है कि स्थायीभाव का स्वरूप एकान्ततः नाटकगत ही नहीं है और न इसका कोई सुनिश्चित स्थान ही है। यह तो नाटक, कविता या साधारण बोलचाल की भाषा से भी सम्बद्ध एक विशेष अर्थ या आशय है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भरतमुनि ने स्थायीभाव और काव्यार्थ को एक जैसा ही माना है। यदि हम छठे और सातवें अध्याय के गद्यांशों को मिलाकर देखें तो यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जायेगी। छठे अध्याय में इन्होंने लिखा है 'वागंग सत्वोपेतान् स्थायीभावान्' अर्थात् रंगमंच पर स्थायीभाव वाचिक, आंगिक और सात्विक अभिनय का रूप ग्रहण करते हैं। सातवें अध्याय में इन्होंने लिखा है 'वागंग सत्वोपेतान् काव्यार्थान्' अर्थात् काव्यार्थ ही वाचिक, आंगिक और सात्विक अभिनय का रूप ग्रहण कर लेता है। यह खेद की बात है कि काव्यार्थ और स्थायीभाव इन दोनों शब्दों का शिथिल प्रयोग हुआ है। क्योंकि भिन्न-भिन्न कलाओं में इनका पृथक्-पृथक् वैशिष्ट्य है। तथापि इन शब्दों के शिथिल प्रयोग से स्थायीभाव के आशय को समझने का सूत्र मिल जाता है। स्थायीभाव मूलतः अर्थ रूपात्मक होने से उसके काव्यगत रूप में तथा रंगमंच-प्रदर्शित नाटकगत रूप में नितान्त भिन्नता हो यह सम्भव नहीं है। यदि स्थायीभाव और काव्यार्थ के स्वरूप को भली प्रकार समझ लिया जाय तो भरतमुनि के वचनों में निहित विरोध का परिहार सम्भव है। रंगमंचीय नाटक तो अनिवार्यतः साहित्य विद्या का उपस्थापन की विधा में किये गये रूपान्तर का नाम है। इसमें काव्यार्थ का रंगमंचीय प्रतीकों में रूपान्तर किया जाता है। इन रंगमंचीय प्रतीकों से पुनः अर्थ ग्रहण किया जाता है जो काव्यार्थ के सदृश होता है। यदि स्थायीभाव को अर्थ रूप में समझा जाय तो उसकी स्थिति रंगमंचीय प्रतीकों से पूर्व तथा पश्चात् भी होगी। इस प्रकार नाट्य-कला की रचना-प्रक्रिया में स्थायीभाव (काव्यार्थ) रसों

का निर्माण करते हैं और आस्वादन की प्रक्रिया में या रंगमंचीय नाटक के प्रेक्षण में रस स्थायीभावों की प्रतीति कराते हैं। जब स्थायीभाव (काव्यार्थ) विभिन्न भावों का रूप ग्रहण कर लेते हैं तब वे रस बन जाते हैं।[1] इन स्थायी भावों की सत्ता वाचिक, आंगिक और सात्विक अभिनयों में होती है, जिनका प्रेक्षक आस्वाद लेता है।[2]

हम यह जान चुके हैं कि भरत के मन में अर्थ की निरन्तरता का नाम स्थायीभाव है भले ही इसका सम्बन्ध काव्य से हो या रंगमंच से। इससे स्पष्ट है कि स्थायीभाव के लिए रंगमंचीय प्रतीक अथवा भाषा की आवश्यकता होती है, क्योंकि इसके बिना अर्थ-ग्रहण मम्भव नहीं है। मेरी धारणा में रस इसी रंगमंचीय भाषा अथवा प्रतीक का नाम है, जिससे स्थायी भाव (रंगमंचगत) उत्पन्न होते हैं जो कि रंगमंचीय भाषा का अर्थ रूप होते हैं और जिनका सम्बन्ध रंगमंच से भी होता है। मेरे विचार को स्पष्ट रूप में समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि रंगमंच एक सार्वजनोन तथा कालिक सातत्यात्मक तत्त्व (Temporal Continuam) है जिसके दोनों छोरों पर एक सुनिश्चित धार (पाइंट) है। एक ओर तो काव्यार्थ अथवा काव्य-रचना है और दूसरी ओर कलास्वाद अथवा सिद्धि है जो रंगमंच को प्रेक्षक से सम्बद्ध करती है। इसके मध्य में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव आते हैं जिन्हें रस का रूप प्राप्त होता है। रस क्रमशः स्थायीभाव, कलात्मक सौन्दर्य तथा प्रेक्षक के आनन्द का कारण बनता है तथा अवर्णनीय कलात्मक आनन्द या अन्तिम दैविकी सिद्धि में उसकी चरम परिणति हो जाती है। अभिनवगुप्त के समय से लेकर अब तक बहुत से समीक्षक रस को अवर्णनीय कलात्मक आनन्दावस्था के रूप में समझते हैं। परन्तु मेरी धारणा में यह असंगत है। यदि ऐसी बात थी तो भरतमुनि रस तथा सिद्धि के स्वरूप का पृथक्-पृथक् उल्लेख ही न करते। दूसरी बात यह है कि बिना कलावस्तु के कलास्वाद की स्थिति सम्भव ही नहीं है। यदि कोई यह कहे कि नाट्य स्वयं ही कलावस्तु है तो इसका उत्तर यह है कि नाट्य से

१. नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। ना० शा०, अ० ६

२. वागंगसत्वोपेतान स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसा प्रेक्षकाः॥ ना० शा०, अ० ६

केवल वस्तुरूप की प्रतीति नहीं होती वरन् नाट्य तो समग्र मूर्तवस्तु है जिसमें रंगमंचगत नाटक का मूल विषय और साथ ही उसके आकार का भी अन्तर्भाव होता है। यदि कोई यह कहे कि नाट्य तो विभिन्न रंगमंचीय नाटकों के लिए सामान्य है, नाट्य ही से हमें रंगमंचीय नाटकों के वर्ग की प्रतीति हो जायेगी। परन्तु इससे नाटक के रूप या आकार की प्रतीति नहीं होगी। जिस प्रकार हम एक विशिष्ट भाषा, वर्ग-विशेष की भाषा तथा भाषा के रूप या वाक्य-रचना में अन्तर करते हैं, उसी प्रकार हमें विशिष्ट नाट्य-प्रयोग, नाट्य और नाट्य के आकार में अन्तर करना चाहिए। परन्तु मेरे विचार में भरत-प्रतिपादित रस-सिद्धान्त में रस को काव्यानन्द के रूप में ग्रहण नहीं किया गया है वरन् यह तो नाट्य के आकार के रूप में स्वीकृत है। मेरी धारणा में भरत ने रंगमंचगत वस्तुरूप रस की स्थापना की थी, इसकी पुष्टि में निम्न कारण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

१. नाट्यशास्त्र के आठवें अध्याय में भरतमुनि ने रस, स्थायीभाव तथा अन्य भावों की 'दृष्टियों' का उल्लेख किया है। इन दृष्टियों का निश्चय ही नटों से सम्बन्ध है। भरतमुनि ने नितान्त स्पष्ट रूप में लिखा है कि इनकी उत्पत्ति रसों से होती है (साथ ही भावों से भी)।[१] ये दृष्टियाँ विभिन्न भावों और रसों के आश्रित रहती हैं।[२] इसी का उल्लेख अन्य श्लोकों में भी मिलता है।[३] इसी प्रकार भरत ने इसी अध्याय में लिखा है कि 'तारकर्म' का प्रयोग रस और भावों में किया जाना चाहिए।[४] नेत्रों के अभिनय का उल्लेख भी भरत ने विभिन्न भावों और रसों के आधार पर किया है।[५] मैं जानता हूँ कि इन श्लोकों का अर्थ दूसरे प्रकार से भी निकाला जा सकता है, परन्तु इस स्थिति में इनमें तोड़-मरोड़ या खींचतान अधिक करनी पड़ेगी।

---

१. नाट्यशास्त्र, ८।५२
२. वही, ८।४३
३. वही, ८।८४, ८५, ९५, ९८
४. वही, ८।१०२, ११२, ११५ आदि
५. वही, ८।१६४-१६७ और १५९-१६३

२. रंगमंच की विभिन्न प्रविधियों (टेकनीक) की व्यवस्था करते समय भरतमुनि ने नाटक में संगीत-प्रयोग की भी विधि दर्शाई है। स्वर-संगीत का सम्बन्ध रंगमंच से है। इसका सम्बन्ध प्रेक्षक से दिखाना कठिन है। भरत ने स्पष्ट लिखा है कि इन स्वरों को रसों में प्राप्त करना चाहिए।[१] इसी प्रकार आगे भरत ने लिखा है कि इनका प्रयोग रसगत है।[२] यह बात सही है कि नाट्यशास्त्र के कतिपय संस्करणों में यह वाक्य नहीं है। इससे स्पष्ट है कि संपादकों ने इसे महत्त्वहीन समझ कर हटा दिया होगा। इसी प्रकार रसों में वर्णों के प्रयोग का उल्लेख किया गया है।[३] भरत ने २७वें अध्याय के ७५वें श्लोक में लिखा है कि विभिन्न रसों से सिद्धि की प्राप्ति होती है। इससे तो नितान्त स्पष्ट है कि रस का स्वरूप सिद्धि से पर्याप्त भिन्न है।

३. अनेक समीक्षक रस-स्वरूप को अनावश्यक ही रहस्यमय बनाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि रस का रूप तो रंगमंच से सम्बन्धित है। छठे अध्याय में भरतमुनि ने विभिन्न रसों के रंगों का भी निरूपण किया है। उदाहरणार्थ, शृंगार का श्याम, हास्य का शुभ्र, करुण का कपोत, रौद्र का रक्त, वीर का शुभ्र, भयानक का कृष्ण, बीभत्स का नीलवर्ण और अद्भुत का पीतवर्ण होना चाहिए।[४] भरतमुनि का प्रस्तुत प्रतिपादन अलौकिक, रहस्यमय या अबुद्धिमत्तापूर्ण लगेगा, यदि रस को आस्वादक या प्रेक्षक की मानसिक स्थिति मान लिया जाय। क्योंकि मानसिक स्थिति के विभिन्न रंग मानना हास्यास्पद बात होगी। यदि इन रसों को रंगमंचीय वस्तुनिष्ठ रूप माना जाय तो निश्चय ही ये रंग विभिन्न रूपों और स्थितियों में सहायक हो सकते हैं। इन वस्तुनिष्ठ रूपों को प्रकाश की सहायता से और अधिक आकर्षक बनाया जा सकता है। आधुनिक रंगमंचीय नाट्यकला में नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने के लिए विभिन्न रंगों का प्रयोग किया जाता है। भरत का निरूपण भी उपयुक्त रंगों के निर्देश से अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने से ही सम्बद्ध है।

---

१. ते एते रसेषु उपपाद्याः, ना० शा०, पृ० २८०, निर्णय सा०

२. एषां च रसगतः प्रयोगः, ना० शा०, पृ० २८३ ”

३. ये वर्णा रसेषु उपपाद्याः, ना० शा०, पृ० २८४

४. नाट्यशास्त्र, ६. ४३-४४.

४. यदि रसों को मानसिक अवस्था के रूप में माना जाय तो यह कथन निरर्थक हो जायेगा कि एक रस से दूसरे रस की उत्पत्ति होती है। भावनाएं निश्चय ही तर्क-बद्ध (Logic Tight) होती हैं और एक की दूसरे से भिन्नता नितान्त स्पष्ट होती है। यह ध्यान देने की बात है कि भरत कभी भी यह नहीं कहना चाहते हैं कि एक स्थायीभाव अर्थात् रति से हास्य की उत्पत्ति होती है। यह कथन भी हास्यास्पद प्रतीत होता। वास्तविक तथ्य यह है कि रंगमंच पर प्रदर्शन के लिए स्वीकृत तत्त्वों में थोड़ा-सा भी परिवर्तन कर देने से सारी परिस्थितियाँ बदल जायेंगी। शृंगार के लिए निर्दिष्ट वातावरण को हास्य में, रौद्र के वातावरण को करुण में, वीर के वातावरण को अद्भुत में थोड़ा-सा परिवर्तन करके बड़ी आसानी से उपस्थित कर सकते हैं। भरतमुनि ने इसी आशय की व्याख्या छठे अध्याय के ४०-४२ श्लोकों में की है।

५. बहुत से लेखकों के मत में 'रस', 'आनन्द' अथवा 'सुख' का समानार्थी है। इसका प्रमाण वे 'रसो वै सः' इस उपनिषद् वाक्य को मानते हैं। वस्तुतः इस वचन में 'रस' और 'सः' को एक सदृश मानना संदिग्ध है। यदि यह निदर्शनात्मक उक्ति है तो रस आनन्द का पर्याय-वाची नहीं हो सकता। यदि आनन्द ऐहिक या जागतिक तत्त्व (Cosmic-Principle) है तो इस तथ्य का निषेध नहीं किया जा सकता कि रस रंगमंचगत वस्तुरूप का नाम है। क्योंकि जागतिक तत्त्व (Cosmic Principle) के अनुसार प्रत्येक वस्तु आनन्द रूप हो जाएगी। तो इस कथन में कोई महत्त्व नहीं होगा कि रस केवल प्रेक्षक की मनोवस्था का ही नाम है। आनन्द एक मूल वस्तु बन जायेगी जिससे किसी भी वस्तु का निर्माण किया जा सकेगा। इसी प्रकार आनन्द से नाट्य रस का भी निर्माण हो जायेगा। परन्तु रस को और आस्वादक की मानसिक स्थिति को समरूप मानना इससे कुछ निराली बात है। यह आनन्द मनोवैज्ञानिक होगा न कि जागतिक (Cosmic)। उपनिषद् का प्रमाण लेकर रस को आनन्द रूप मानना वस्तुतः रस और आनन्द शब्दों का संदिग्ध प्रयोग करना है।

उपनिषद् और श्रुति से प्रमाण प्रस्तुत करते हुए भी इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि भरतमुनि ने रस का किस अर्थ में प्रयोग किया है। भरत ने यह कहा है कि रसतत्त्व को अथर्ववेद से लिया गया

है। अतः यह जानना आवश्यक हो जाता है कि अथर्ववेद में रस शब्द का प्रयोग किस अर्थ में हुआ है। 'रसो वै सः' की उक्ति बहुधा प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत की जाती है। यह तैतिरीय उपनिषद् की उक्ति है जिसका सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से है। अतः रस का अर्थ इससे ग्रहण नहीं करना चाहिए। अथर्वसंहिता में रस शब्द का अनेक बार प्रयोग मिलता है। यहाँ इसका अर्थ प्रायः सर्वत्र ही द्रवपदार्थ, सार या रसायन रूप ही है, कहीं भी आनन्दरूप नहीं है। अतः रस और आनन्द को समानार्थी रूप में प्रयुक्त करना उचित नहीं है। मेरी धारणा में भरत ने नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में द्रवपदार्थ, सारतत्त्व या रसायन के आशय से ही रस शब्द का प्रयोग किया है और भरत को सही रूप में समझने के लिए हमें रस का यही आशय ग्रहण करना चाहिए।

मैंने अपने पूर्ववर्ती लेखों में यह बताने का प्रयत्न किया है कि रस का संबंध रंगमंच से है और स्थायीभाव कवि के स्थिर मनोभावों का नाम है। जब स्थायीभाव विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों में रूपान्तरित हो जाते हैं तब इन्हें वस्तुरूपता प्राप्त होती है और वे ही रस कहलाते हैं। मूल रूप में मेरी प्रस्तुत धारणा सही है, परन्तु आंतरिक मीमांसा करने पर इसमें दोष दिखाई देते हैं। स्थायीभाव कवि के आंतरिक भाव का नाम नहीं है वरन् कवि की रचना का नाम है। यद्यपि कवि की रचना कहने से उसका सम्बन्ध कवि के मन से भी हो ही जाता है। परन्तु कवि द्वारा वस्तु को समझने में और उसको व्यक्त करने में निश्चय ही अन्तर रहता है। कवि द्वारा समझने का कार्य 'अनुव्यवसाय' रूप होता है और उसे व्यक्त करने का कार्य 'व्यवसायरूप' होता है। इस तत्त्व का आगे स्पष्टीकरण किया जायेगा। इस अन्तर के कारण कवि द्वारा समझने के कार्य को, जो कि अभिव्यक्ति की अपेक्षा जटिल होता है, पृथक् नाम दिया जाना चाहिए। मेरे विचार में भरत ने इसे ही 'कवेरन्तर्गतं भावं' कहा है और इसकी अभिव्यक्ति को स्थायीभाव कहा है। इसे ही वे काव्यार्थ भी कहते हैं।[1] कवि-अन्तर्गत भाव का अनेक रूपों में उपस्थापन हो सकता है। इसमें कविता या काव्य एक रूप है, जिसका पुनः एक अन्य

१. ना० शा०, पृ० १०४

रूप में अर्थात् नाट्य रूप में परिवर्तन हो सकता है। मेरे विचार से जिस प्रकार कवि-मनोभाव काव्य-भाषा का आकार ग्रहण कर लेते हैं उसी प्रकार नाट्य भाव भी एक भिन्न आकार ग्रहण कर लेते हैं। इसके लिए एक पृथक् नाम की आवश्यकता थी और भरत ने इसे ही रस संज्ञा प्रदान की है। भरतमुनि के सूत्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इनका सूत्र है—'तत्र विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद् रस निष्पत्तिः।' इसका अर्थ है कि जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव संयुक्त हो जाते हैं तब रस-निष्पत्ति होती है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के अर्थ के विषय में अधिक मत-भिन्नता नहीं है। साथ ही इसका भी प्रतिषेध नहीं हो सकता कि इन सबका केन्द्र रंगमंच है। आनन्दवादी आचार्यों के अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से प्रेक्षक या आस्वादक के मन की एक विशिष्ट स्थिति को जागृत किया जाता है। मेरे विचार में प्रथम तो इस स्थिति का अन्तर्भाव भरत-प्रतिपादित 'सिद्धि' सिद्धान्त में हो जाता है। दूसरी बात यह है कि नाट्य की व्याख्या तभी सार्थक होगी जब कि इसकी स्थिति को रंगमंच के आधार पर समझने का प्रयत्न किया जाय। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि निष्पत्ति और संयोग का अर्थ भली प्रकार समझा जाय। निष्पत्ति किसे कहते हैं? क्या निष्पत्ति और उत्पत्ति में कोई अन्तर है? अथवा ये दोनों एक ही हैं? मेरे विचार में उत्पत्ति शब्द परिणाम को निर्दिष्ट करता है जो कि कुछ समय के लिए अस्थायी रूप से अपने मूलकारण से पृथक् उल्लिखित किया गया है। उदाहरणार्थ, जैसे गोली चलाने के बाद व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। गोली का चलाना कारण है और व्यक्ति की मृत्यु उसका परिणाम है। व्यक्ति की मृत्यु गोली चलाने की क्रिया में स्थित नहीं है। परन्तु दूसरी ओर वाक्य का अर्थ वाक्य में निहित होता है भले ही यह वाक्य से प्राप्त हुआ हो। ऐसी ही स्थिति में निष्पत्ति शब्द का हम सार्थक प्रयोग कर सकते हैं। बीजों को दबाने से बीजों में से तेल निकलता है। यद्यपि तेल का रूप बीज से भिन्न होता है फिर भी तेल बीजों में ही निहित होता है और उसका आकार बीज से भिन्न होता है। इसी प्रकार 'निष्पत्ति' में परिणाम भी मूल कारण में पहले से विद्यमान है। इसमें कारण और परिणाम का एक प्रकार से सम्मिश्रण

है। निष्पत्ति के विवेचन का तात्पर्य केवल यही निकलता है कि इसमें सम्मिश्रित शारीरिक अथवा मानसिक तत्त्वों का पृथक्करण करके उन्हें एक दूसरे से भिन्न रूप में देखा जा सके। निष्पत्ति में जिस स्थिति का निर्देश है उसमें कारण और परिणाम का तर्कपूर्ण पूर्वापर सम्बन्ध का उल्लेख नहीं है वरन् उनका एक ही समय साथ-साथ सम्बन्ध दर्शाया गया है। परन्तु परवर्तीकाल में इनका पृथक्-पृथक् प्रदर्शन आरम्भ हुआ। यहाँ मैं दर्शनशास्त्र के कारण-सिद्धान्त से सम्बद्ध सत्कार्यवाद और आरम्भवाद के वाद-विवाद में नहीं जा रहा हूँ। क्योंकि किसी भी स्थिति की किसी न किसी सिद्धान्त के आधार पर व्याख्या सम्भव है। लेकिन कई बार ऐसी स्थिति होती है जिसमें परिणाम विद्यमान होता है, परन्तु कई बार यह भी देखा गया है कि कारण में परिणाम विद्यमान नहीं होता। उदाहरणार्थ, बीजों में तेल की स्थिति तो होती है परन्तु दूध में दही अथवा आम्रवृक्ष में आम्रफल की स्थिति नहीं दिखाई देती। मैं दर्शन के तार्किक विवेचन में नहीं पड़ना चाहता। हो सकता है कि कोई दार्शनिक यह कहे कि कारण में परिणाम सदैव विद्यमान होता है, परन्तु वह अत्यन्त सूक्ष्म होता है। मेरा सम्बन्ध केवल सूक्ष्म परिभाषाओं से है। मेरी धारणा में उपर्युक्त सूत्र के 'निष्पत्ति' शब्द से यही अर्थ निकलता है कि रस विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों में विद्यमान है और वह उन्हीं में निहित भी है। 'निष्पत्ति' से किसी अन्य में उत्पन्न करने का भाव व्यक्त नहीं होता वरन् अपने आप में उत्पत्ति का अर्थ ध्वनित होता है। यह तथ्य भरतमुनि के उदाहरणों से और भी स्पष्ट हो जाएगा। इनके मत में गुड़, कालीमिर्च आदि द्रव्यों के संयोग से रस निष्पन्न होता है। इससे स्पष्ट है कि विविध द्रव्यों का संयोग किसी अन्य रस को उत्पन्न नहीं करता वरन् वह अपने आप में रस ही है।

यदि उपर्युक्त सूत्र में निहित 'संयोग' शब्द का औचित्य समझ लिया जाय तो मेरे विचार और भी अधिक स्पष्ट होंगे। 'संयोग' का अर्थ है सम्बन्ध। इससे बाह्य सम्बन्ध ही व्यक्त होता है जो कि दो अथवा तीन पदार्थों में हो सकता है। उदाहरणार्थ, 'यह व्यक्ति प्रतिभावान् है', 'वह वस्तु पीली है', 'वह स्त्री रो रही है अथवा दुःखी है' आदि वाक्यों में मनुष्य और प्रतिभा में वस्तु और पीलेपन में, स्त्री के

रोने और दुःख में बाह्य सम्बन्ध नहीं है वरन् इसे आन्तरिक सम्बन्ध कहा जाता है। जब कोई व्यक्ति सचमुच में रो रहा हो तो रोना व्यक्ति के अन्तरंग से सम्बन्ध रखता है और इससे उसके अन्तरंग का संशोधन हो जाता है। इस अभिव्यक्ति को उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। इसे ही स्वभाव कहा जाता है और भाव शब्द से वास्तविक जगत् की आत्माभिव्यक्ति का निर्देश मिलता है। भरतमुनि ने इसी आशय से 'आत्माभिनयभावः' कहा है।[1] परन्तु जब कोई व्यक्ति रोने का बहाना करता है तब यह रुदन उसका निजी नहीं समझा जाता है। इसकी स्थिति तब और अधिक स्पष्ट हो जाती है जब व्यक्ति न केवल बहाने से दूसरे का रोना दिखाता है वरन् अपने आपको दूसरे व्यक्ति के रूप में बदल लेता है। जो व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का रूप धारण करता है उसकी अनुभूति वास्तविक व्यक्ति के नितान्त सदृश नहीं हो सकती। जब कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का रूप ग्रहण कर लेता है अथवा वैसा बनने का बहाना करता है तब उसके रोने या व्यवहार करने के बहाने में वैसी वास्तविकता नहीं हो सकती, जैसी कि मूल व्यक्ति के रोने या व्यवहार करने में होती है। जो व्यक्ति किसी प्रकार का बहाना नहीं कर रहा है उसमें ये सभी तत्त्व उसकी आत्मा या व्यक्तित्व से पूर्णतः एकाकार हुए रहते हैं, उसी के अंग बने रहते हैं। वे 'संयोग' शब्द से ध्वनित अर्थानुसार केवल बाह्य अंग नहीं बने रहते। इस सम्बन्ध में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव शब्दों का आशय समझना बहुत रोचक होगा। इनमें प्रथम दो की स्थिति केवल अभिनय या बहाने में व्यक्त होती है। यहाँ केवल आलम्बन विभाव का ही निरूपण किया जाता है। जो बात आलम्बन विभाव के विषय में कही जायेगी वही उद्दीपन विभाव के विषय में भी सत्य होगी, परन्तु वास्तविक जगत् में तो विभाव या भूमिका (अभिनय) का रूप नहीं होता वहाँ तो केवल यथार्थ आत्मभाव होता है, जिससे सब प्रकार की अभिव्यक्तियाँ संलग्न रहती हैं। परन्तु जब कोई दूसरे का अभिनय करने लगता है तब वह कुछ समय के लिए निजत्व से छुटकारा पा लेता है और दूसरे व्यक्ति जैसा अपने को सिद्ध करने का प्रयत्न करता है।

---

१. ना० शा० ४०।२५

जो व्यक्ति इस प्रकार का अनुकरण करता है उस स्थिति में उसका शरीर आधार या आश्रय है और दूसरे के व्यवहार या व्यक्तित्व को वह गुणों के रूप में ग्रहण करता है तथा उन्हें अस्थायी रूप से अपने शरीर से सम्बद्ध कर लेता है। यह आधार या आश्रय जो अस्थायी रूप से अपने मूल व्यक्तित्व से छुटकारा पा चुका है, विभाव के रूप में जाना जाता है और जिस व्यक्तित्व को यह आश्रय व्यक्त करता है वह 'भूमिका' के रूप में समझा जाता है।

इसी आलंबन विभाव को कभी-कभी पात्र भी कहा जाता है। कोई भी 'भूमिका' तभी पूरी तरह उतर आती है जब अनुकार्य के मूल भावों को शारीरिक चेष्टाओं या अनुभाव की सहायता से 'विभाव' से सम्बद्ध किया जाता है। इस प्रकार किसी भी नाटक में जो कि अनुकरण रूप होता है, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का एकत्र सम्मिलन आवश्यक हो जाता है। नाट्यकला के लिए इसकी अनिवार्य आवश्यकता होती है। मूल विषय की भिन्नता से एक नाटक दूसरे नाटक से भिन्न हो सकता है। परन्तु जहाँ तक रंगमंच पर उपस्थापन के रूप का संबंध है, उसका रूप सार्वत्रिक है, और यह रूप विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के साथ संयोग होने पर ही उसे प्राप्त होता है। नाटक (काव्य) को यह रूप देना ही रंगमंच के प्रत्येक दिग्दर्शक का उद्देश्य होता है। अतः यह रूप नाट्यकला का आत्मतत्त्व है। इसके बिना 'अनुकरण' असंभव हो जायेगा और नाटक का रंगमंच पर उपस्थापन नहीं हो सकेगा। अतः भरतमुनि द्वारा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग पर बल देना नितान्त उपयुक्त है। इस संयोग को ही भरत ने 'रस' या 'नाट्यरस' कहा है जो कि रंगमंच के उपास्थापन का सार तत्त्व है। नाटक की मूल विषयवस्तु और उसका यह आकार या रूप मिलकर ही किसी नाटक को सार्थक करते हैं तथा प्रेक्षकों के मन में अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया जगाते हैं। इस अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया का प्रतीक है 'उत्पत्ति' शब्द तथा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग का प्रतीक है 'निष्पत्ति' शब्द। अतः यह कहना उचित है कि भरत के मत में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव रस की ओर नहीं ले जाते वरन् वे स्वयं संयुक्त होकर रस बन जाते हैं।

भरत-निरूपित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी शब्दों की व्याख्याएं जानने योग्य हैं। वास्तव में विभाव कारण या साधन है, जो अनुकरण में सहायता पहुंचाता है। भरत ने विभाव के विषय में लिखा है—'विभावः निमित्तं कारणं हेतुः इति पर्यायाः।'[1] इन्होंने विभाव की व्याख्या करते हुए करण कारक का प्रयोग किया है—'विभाव्यन्ते अनेन...' इससे स्पष्ट है कि विभाव कारण या साधन है। भरत ने जब यह व्याख्या लिखी तब न्यायशास्त्र में निरूपित कारण के निमित्त कारण आदि वर्गीकरणों का अस्तित्व सम्भवतः नहीं होगा। यह ध्यान देने की बात है कि भरत के विचार में विभावों से स्थायीभाव उत्पन्न होते हैं। जब कभी उन्होंने यह बताने का प्रयत्न किया है कि कतिपय विभावों से एक स्थायीभाव उत्पन्न किया जाता है, तब उन्होंने सर्वत्र 'समुत्पद्यन्ते' शब्द का प्रयोग किया है। जब विभाव का सम्बन्ध सजीव प्राणियों से होता है तो वह एक आश्रय रूप है और जब इसका सम्बन्ध वातावरण से होता है तब यह एक साधन रूप है। परन्तु आलंबन विभाव और उद्दीपन विभाव को भी साधन[2] रूप ही समझा जा सकता है।

वस्तुतः विभाव का स्वरूप बहुत ही जटिल और दुरूह है। अतः इसके महत्त्व को भली प्रकार से समझना आवश्यक है। केवल 'नट' और वातावरण ही नहीं वरन् अनेक नटों के परस्पर सम्बन्ध तथा नटों और वातावरण के परस्पर सम्बन्ध में भी विभाव की ही स्थिति समझी गई है। विभाव एक प्रकार का अवलम्ब है जो नटों, वातावरणों तथा उनकी शारीरिक अभिव्यक्तियों को एकत्र रखता है। इस प्रसंग में यह जानना आवश्यक है कि 'वियोग' का स्वरूप 'भाव' के अन्तर्गत नहीं आयेगा। भाव तो व्यक्ति की शारीरिक या मानसिक स्थिति का नाम है। इस प्रकार सुख और दुःख, हास्य और रुदन, मूर्छा और मरण, भाव या व्यभिचारी भाव माने जा सकते हैं परन्तु वियोग को इस रूप में नहीं ले सकते।

---

१. ना० शा०, पृ० १०५

२. यदि अनुकरण को सक्रिय रूप (Active aspect) में लें तो यह साधन (Instrument) है और यदि इसे निष्क्रिय रूप (Passive aspect) में लें तो यह मूल आधार या आश्रय रूप है।

परन्तु विभाव जिस प्रकार के कारण हैं वैसे अनुभाव नहीं हैं। अनुभाव तो शारीरिक प्रतिक्रियाएं हैं, जिनसे विभाव और भाव समझे जा सकते हैं। जब कोई रोता या हंसता है तब उस रुदन या हास्य की जो शारीरिक अवस्था है वह अनुभाव है। यह अवस्था मानव प्रकृति में स्वाभाविक रूप में रहती है और 'अनुकरण' या नाटक में इसे लाने का सचेष्ट प्रयत्न किया जाता है। इसी कारण भरत ने इसे 'लोक यात्रानुगामी' कहा है। यदि परिणाम के रूप में समझा जाय तो अनुभाव और अभिनय में बहुत कम अन्तर है। परन्तु 'अभिनेयत्व' ही इन दोनों में अन्तर उपस्थित कर देता है। यह एक कार्य-प्रवृत्त कराने वाली शक्ति है जिससे कतिपय शारीरिक प्रतिक्रियाएं या स्थितियां उत्पन्न होती हैं, जिन्हें अनुभाव कहा जाता है।

यह ऊपर बताया जा चुका है कि नाटक एक अनुकरण है। इसमें किसी वर्तमान या पूर्वस्थित का अनुकरण होता है अथवा इसमें कवि या ईश्वर के मन में स्थित किसी वस्तु का अनुकरण होता है।[१] हम देख चुके हैं कि अनुकरण में विभिन्न तत्त्वों का एकीकरण किया जाता है। उनको केवल बाह्य रूप से परस्पर सम्बद्ध किया जाता है। इस प्रकार मूल में समन्वयात्मक एक ही प्रकार का संयोग होता है तो अनुकरण में कलात्मक संयोग होता है, भले ही अभिनय के कारण उसमें मूल जैसी सजीवता प्रतीत हो। अतः इस कलात्मक संयोग में प्रत्येक तत्त्व को स्वतन्त्र सत्ता या द्रव्य के रूप में ग्रहण करना चाहिए और इन सबके संयोग को भी द्रव्य ही मानना चाहिए। संयोग या बाह्य सम्बन्ध की स्थिति द्रव्यों में ही संभव है। अतः नाटक के विषय में विभाव, व्यभिचारीभाव और अनुभावों की स्वतन्त्र सत्ता माननी चाहिए और इनके बिना नाटक का रंगमंच पर प्रयोग असम्भव हो जायेगा। इन सबका संयोग जो कि रस है, द्रव्य रूप ही है और इस रस पदार्थ का ही प्रेक्षकों द्वारा आस्वाद लिया जाता है।

मेरी धारणा में 'रस' ठीक वैसे ही श्रव्य-दृश्य (Audio-Visual) भाषा का निर्देशक है जैसे कि 'शब्द' सामान्य अथवा श्रव्य भाषा का निर्देशक है। ऐसा लगता है कि स्वयं अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' में दृश्य

---

१. देवानांमानुषी सृष्टिः —ना० शा० २।५

(Visual) भाषा पर विचार किया था और उसे 'रूप' संज्ञा से अभिहित किया है। पूर्ववर्ती लेखों में यह लिखा जा चुका है कि सम्भवत: ये शब्द सांख्य-पद्धति से ग्रहण किये गये हैं और इनका आशय 'तन्मात्राओं' से है। प्राय: यह माना जाता है कि नाट्य-पद्धति और काश्मीरी शैववाद सांख्य-पद्धति से उद्भूत हुए हैं। यह मान्य हो अथवा न हो परन्तु इससे मेरी धारणा में कोई अन्तर नहीं आता कि रस श्रव्य-दृश्य (Audio-Visual) भाषा का ही स्थानापन्न है, विशेषत: रंगमंच-प्रयुक्त नाटक के संदर्भ में।

अत: आरंभिक रस-सिद्धान्त में 'रस' शब्द मुख्यत: श्रव्य-दृश्य कला का निर्देशक रहा है। यह तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा यदि वामन और आरंभिक अलंकारवादी आचार्यों द्वारा प्रयुक्त रस शब्द का सूक्ष्म परीक्षण कर लें। इन्होंने इसका प्रयोग श्रव्य काव्य के संदर्भ में भी किया है। विशेषत: आधुनिक काल में वामन के सूत्र 'दीप्तरसत्वं कान्ति' का नितांत अनुपयुक्त अर्थ लगाया गया है। वामन के अनुसार कान्ति उत्तम काव्य के अनेक गुणों में से एक है। यह या तो शब्द का गुण है अथवा अर्थ का गुण है। प्रत्येक स्थिति में कान्ति गुण कलावस्तु के रूप में काव्य से सम्बद्ध है न कि 'आनन्द' आदि की भाँति आस्वादक की मन:स्थिति से। वामन के अनुसार जब रस दीप्त होता है तब कान्ति गुण बन जाता है। इस प्रकार रस और कान्ति में पूर्वापर सम्बन्ध होता है। कम से कम वामन के अनुसार तो रस कान्ति की परवर्ती स्थिति नहीं है और इसे आनन्द का समानार्थी नहीं माना जा सकता।

भरतमुनि ने कान्ति को नाट्यगुण माना है और 'दीप्ति' शब्द का भी प्रयोग किया है। इन्होंने कान्ति की व्याख्या 'दीप्ति' शब्द से की है। जब दृश्य प्रतिमा देर तक बनी रहती है तब वही दीप्ति बन जाती है। 'कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते।'[1] 'दीप्ति' का शाब्दिक अर्थ है 'प्रकाशित' और यह दृश्यानुभूति को उत्कृष्टरूप में जाग्रत कर देता है। इस प्रकार कान्ति तीव्र रूप में अनुभूत दृश्यप्रतिमा (Visual Image) अथवा चित्र है और रस भी दृश्य-प्रतिमा ही है।

१. नाट्य शा० २६।२२

श्रव्य काव्य में ऐसे भी स्थल होते हैं जो दृश्य प्रभाव को उत्पन्न करते हैं और पाठकों के नेत्रों के आगे घटनाओं का साक्षात् चित्र प्रस्तुत करते हैं। काव्य में जिस स्थल पर प्रस्तुत गुण आ जाता है उसमें कान्ति गुण की स्थिति समझी जाती है। ऐसी स्थिति में रस का आशय चित्रानुभूति लेना चाहिए।

अपने पूर्ववर्ती लेखों में रसवत् अलंकार के स्वरूप का परीक्षण किया जा चुका है, अतः यहाँ पुनर्विवेचन व्यर्थ है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि मूलरूप में रसवत् अलंकार की स्थिति काव्य में वहाँ मानी गई थी जहाँ काव्य से चित्रात्मक प्रभाव उपस्थित होता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि भरत ने स्थायीभाव और 'कवि अन्तर्गत' भाव में अंतर माना है। यह अन्तर बहुत महत्त्व रखता है। हम नाट्य के विषय में देख चुके हैं कि कला की प्रतिक्रिया पर दो प्रकार से विचार किया जा सकता है। एक विचार के अनुसार कला 'रचना' या निर्माण है और दूसरे के अनुसार यह अनुकरण है, भले ही यह यथार्थ हो या आदर्श हो। अनुकरण की स्थिति में भी इसे कवि या कलाकार के माध्यम की अपेक्षा होती है। अतः कला मूलतः रचना ही है। इसे हम इस प्रकार समझें कि कलावस्तु एक संमिश्र रचना है; इसे हम 'अ. ब. क.' नाम दें। साथ ही यह भी मानें कि यह एक अनुकरण रूप है। मूलभूत कलावस्तु को भी हम 'अ. ब. क.' कहें। मूल 'अ. ब. क.' के सामने 'अ. ब. क.' की प्रतिलिपि अस्तित्व में आती है। जब मूल 'अ. ब. क.' को समझा जाता है तब उसकी रचना की जाती है। कवि अन्तर्गत मन की स्थिति 'अ. ब. क.' की अपेक्षा अधिक जटिल होगी। 'अ. ब. क.' का समझना अथवा उसकी रचना करना निश्चय ही कवि-मन का ही एक भाग होगा। लेकिन साथ ही यह भी ध्यान देना चाहिए कि समझना अथवा रचना करना 'अ. ब. क.' की स्थिति से बहुत भिन्न है। इस रचना को हम 'क्ष' मानें तब सारी स्थिति इस प्रकार होगी—क्ष × अ. ब. क। 'क्ष' को हम परिवर्तनशील मानें और इसका मूल्य कितना भी निर्धारित कर लें। यदि इसका मूल्य शून्य है तो 'क्ष × अ. ब. क.' भी शून्य ही हो जायेगा। यहाँ समझने की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ज्ञान 'अ. ब. क.' के ज्ञान के रूप में स्वयं कवि मन का अंश या

भाग नहीं बनेगा। परन्तु 'क्ष × अ. ब. क.' स्वयं एक 'भाव' हो सकता है अथवा इस वस्तु के लिए स्थायीभाव भी। परन्तु विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इसमें भाव की, स्थायीभाव की या एक विशिष्ट वातावरण की रचना की जाती है। अतः कला 'अनुव्यवसाय' अथवा 'आत्मचेतना' रूप होती है। दूसरे प्रकार का भाव प्रथम प्रकार के भाव का रचनात्मक रूप है। यह स्थिति किसी भी बाह्य प्रेक्षक के सामने होगी। फिर भी कवि तथा अन्य प्रेक्षक में निश्चय ही अन्तर होगा। हम एक पुष्ट उदाहरण लें। यहाँ हम उस घटना की स्मृति दिलाना चाहते हैं जिसने वाल्मीकि को रामायण की रचना के लिए प्रवृत्त किया।

क्रौंच पक्षियों का एक जोड़ा परस्पर कामक्रीड़ा में मुग्ध है। एक शिकारी वहाँ आ जाता है। वह तीर चलाता है और उनमें से एक, नर पक्षी उसके तीर का निशाना बन जाता है। यह है समग्र स्थिति। प्रस्तुत स्थिति पर्याप्त जटिल है। इसका पृथक्-पृथक् विश्लेषण किया जा सकता है। प्रथम तो यहाँ पक्षियों का जोड़ा है। इससे अनायास ही प्रेम-व्यापार की ध्वनि निकलती है। दूसरी स्थिति शिकारी और पक्षी के बीच की है। किसी अन्य परिस्थिति में शिकारी में प्रेम भाव अत्यन्त तीव्र हो सकता है परन्तु यहाँ उसमें बिल्कुल नहीं है। यहाँ तो उसे शिकार की इच्छा है अथवा उसमें शिकारी की वीरता की भावना है। चूंकि वह अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है, अतः उसे प्रसन्नता ही होती है, दुःखानुभव नहीं होता। तीसरी स्थिति और भी जटिल है। नर पक्षी की या तो मृत्यु हो चुकी है या वह मरणासन्न है। वह शिकारी के तीर का निशाना बन चुका है। परन्तु मादा पक्षी अपने आप को इस स्थिति से पृथक् नहीं कर सकता। इससे उसमें शिकारी के लिए तिरस्कार का भाव तथा घृणा उत्पन्न होती है। वह शोकाकुल हो जाता है। यह शोक काम की अपरितृप्ति की पृष्ठभूमि के कारण और भी अधिक तीव्र हो उठता है। एक और कल्पना करें कि शिकारी की भी पत्नी है। उसे इस परिस्थिति का बिल्कुल भी ज्ञान नहीं है। तब उसकी प्रतिक्रिया समाधानपूर्ण होगी। इस सारी परिस्थिति से उस पर एक समग्र प्रभाव आत्मसंतोष या प्रशंसा का ही पड़ेगा। परन्तु इसी स्थिति का एक अन्य निःस्वार्थ व्यक्ति पर दूसरे ही प्रकार का प्रभाव

पड़ेगा। वह करुणा से द्रवित हो उठेगा। वह शोकाकुल हो जाएगा। परन्तु उसका यह शोक उसी प्रकार का नहीं होगा जिस प्रकार का मादा पक्षी का है। इस स्थिति का प्रत्येक भाग अपना स्वतन्त्र अर्थ रखता है और समग्र स्थिति से भी एक स्वतन्त्र अर्थ या भाव व्यक्त होता है। इसे ही स्थायीभाव कहा जा सकता है। यदि स्थायीभाव प्रत्यय या व्यवसाय है तो इसकी प्रतिक्रिया का रूप होगा—अनुव्यवसाय। किसी-किसी स्थिति में अनुव्यवसाय एक जैसे भी हो सकते हैं। परन्तु यह स्थिति सर्वत्र नहीं होती। कभी-कभी समग्र स्थिति का भाव अनुव्यवसाय के अन्तर्गत आयेगा तो कभी इसके अन्तर्गत नहीं भी आ पाएगा। वास्तव में विविधता की संभवता के कारण कलावस्तु भिन्न-भिन्न आकार (फार्म्स) ग्रहण करती है। हम यह देख चुके हैं कि समग्र स्थिति से सम्बद्ध अनुव्यवसाय अथवा प्रेक्षक की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न हो सकती है। इसी कारण रुचि-हीन व्यक्ति की प्रतिक्रिया भी इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण समझी गई है। यहाँ तक कि मूलतः रुचि न रखने वाले व्यक्तियों की प्रतिक्रियाएं भी भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। कोई प्रेक्षक शिकारी को मार कर पक्षी को बचाने के लिए चिकित्सा का प्रबन्ध कर सकता है। ऐसी स्थिति में मूलतः जो व्यक्ति इसमें रुचि न रखने वाला था वह भी रुचि लेने लगता है। इससे यह स्थिति और भी जटिल बन जाती है। एक अन्य प्रेक्षक में भी इसी प्रकार की मानसिक प्रतिक्रिया हो सकती है। परन्तु यह भी संभव है कि वह अपनी प्रतिक्रिया को पूर्व प्रेक्षक के समान क्रियात्मक रूप न दे और निःसंगता का पालन करते हुए वह अपने आप को उस समग्र परिस्थिति का अंग न बनने दे। कवि का मन अनिवार्यतः इस स्थिति का चित्रण करता है। परन्तु उससे भी यह अधिक जटिल हो जाता है। इसमें रचनात्मकता का अंश अनिवार्यतः जुड़ जाता है। परिणामतः उसकी प्रतिक्रिया उसके मन का निष्क्रिय अंश बन कर नहीं रह जाती वरन् वह किसी न किसी रूप में रचना का आकार ग्रहण कर लेती है, इसी को कला या काव्य कहा जाता है। यही रचना वाल्मीकि के मुख से श्लोक के रूप में फूट पड़ी—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

कवि के मन की प्रस्तुत स्थिति स्थायीभाव से भी अधिक जटिल होती है और भरतमुनि ने इसे 'कवि अन्तर्गत भाव' की संज्ञा दी है। यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि कवि किसी विशिष्ट परिस्थिति या घटनाओं का ही निरीक्षण करता है। उसकी प्रतिक्रिया निश्चय ही विशिष्ट घटनाओं से ही उद्बुद्ध होती है। परन्तु ग्रहण और अभिव्यक्ति की प्रस्तुत प्रतिक्रिया में भी उसकी प्रतिक्रिया सामान्य रूप धारण करती जाती है, जिसे अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण कहा है।

समग्र घटना के प्रति कवि की जैसी प्रतिक्रिया होती है, वैसी ही प्रतिक्रिया प्रेक्षक की कलावस्तु के प्रति होनी चाहिए। विशेषतः जब कि कलावस्तु में प्रस्तुत समग्र घटना वास्तविक घटना का अनुकरण रूप हो। भावना के कारण दोनों अवस्थाओं में समता आ सकती है। भले ही बाह्यरूप से या वस्तुरूप से इन दोनों अवस्थाओं में साम्य न हो। इसके दो कारण हैं। जिस वस्तु के प्रति कवि की प्रतिक्रिया हुई थी उसकी तुलना में प्रेक्षक आस्वादित वस्तु का रूप न्यून अथवा अधिक जटिल हो सकता है। दूसरी बात यह है कि किसी भी कलावस्तु से भाषा के समान ही अनेक लाक्षणिक या व्यंग्य अर्थों की ध्वनि निकल सकती है। प्रस्तुत प्रक्रिया वस्तुतः कवि के मस्तिष्क में ही साधारणीकरण के रूप में आरंभ हो जाती है। परन्तु इसे उसी स्थल पर पूर्णता या विराम मिले यह आवश्यक नहीं है। प्रेक्षक के लिए समग्र घटना, समय, वातावरण तथा योग्यता के अनुरूप यह भिन्न-भिन्न अर्थ प्रदान कर सकती है।

सौन्दर्य की विचारधारा के अनुरूप इस स्थिति का निरूपण करना आवश्यक है। सौन्दर्य की धारणा किसी न किसी रूप में सभी कलाओं से सम्बद्ध होती है, इसका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। भरत ने इसे 'शोभा' कहा है तो वामन ने इसे 'सौन्दर्य' या 'अलंकार' नाम दिया है और आनन्दवर्धन 'ध्वनि' में इसी का प्रतिफलन देखते हैं। सौन्दर्यभावना से हीन कोई भी कला ग्राह्य नहीं हो सकती। सभी कलाओं में प्रेषणीयता होती है। परन्तु सभी प्रकार की प्रेषणीयता में कला हो यह आवश्यक नहीं है। कारण यह है कि कला में द्विविध प्रेषणीयता होती है। **प्रथम**

है भाषागत, इसमें सामान्य प्रेषणीयता होती है। परन्तु इससे भिन्न भी एक प्रेषणीयता होती है और वह है सौन्दर्य की प्रेषणीयता। यही वह तत्त्व है जो कला को भाषा के अन्य प्रकारों से भिन्न कर देता है। भरत, वामन, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, आनन्दवर्धन, राजशेखर जैसे बड़े-बड़े आचार्य इस तथ्य से परिचित थे। जगन्नाथ ने तो काव्य की परिभाषा में इसका स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। इनके अनुसार रमणीय अर्थ का प्रेषण करने वाला शब्द काव्य कहलाता है। इस परिभाषा से काव्य-स्वरूप के विषय में नई-नई समस्याएं उपस्थित हो जाती हैं। अपने पूर्ववर्ती लेखों में मैंने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'सौन्दर्य' एक संज्ञा है जो अस्तित्ववाचक नहीं है। अतः मेरे विचार में 'सौन्दर्य' संज्ञा से प्रथम जो अर्थ निकलता है वह विशेषण रूप होता है। मेरी धारणा में ऐसे अनेक विशेषण हैं जो बिना किसी आधार को व्यक्त किए अर्थ-प्रेषण करते हैं। यह नहीं समझना चाहिए कि अर्थ-संप्रेषक प्रत्येक शब्द अनिवार्यतः किसी वस्तु या आधार को भी व्यक्त कर दे। यह संभव है कि 'सौन्दर्य' में केवल एक ही धारणा न हो वरन् अनेक धारणाओं का समुच्चय हो और ये विभिन्न धारणाएं ही 'सौन्दर्य' कहलाती हैं, क्योंकि इनमें परस्पर संगति होती है। मेरे विचार में सौन्दर्य का अनिवार्यतः ज्ञान या प्रत्यय वर्ग से सम्बन्ध है। इसका सम्बन्ध वस्तु-वर्ग से नहीं है वरन् वस्तु के ज्ञान से है और वस्तु का ज्ञान वस्तु नहीं हो सकती। अधिकांश दार्शनिक भ्रान्तियों का जन्म 'वस्तु' और 'वस्तु का ज्ञान' को समरूप मान लेने से होता है। यही स्थिति 'अर्थों' की भी हो जाती है। 'सौन्दर्य का ज्ञान' 'सुन्दर या सौन्दर्य का ज्ञान' इन दोनों वाक्यों को हम किसी भी प्रकार से 'सौन्दर्य' से भिन्न नहीं मानते। यह कथन उसी प्रकार का है जिस प्रकार कि 'मेरा अपना' कहना है। इस वाक्य में 'मेरा' और 'अपना' को भिन्न-भिन्न मानना सही नहीं है। मेरे विचार में हमारे प्राचीन आचार्य सौन्दर्य के प्रस्तुत स्वरूप से भली प्रकार परिचित थे। अन्यथा वे इसे 'संवित्' के रूप में अभिहित न करते। ज्यूंही हम यह जान लेते हैं कि सौन्दर्य की धारणा का सम्बन्ध अर्थ और ज्ञान से है, त्यूंही इसका एक अन्य पक्ष भी स्पष्ट हो जाता है। वह यह कि ज्ञान या 'संवित्' सदैव एकघन, अखण्ड और अविभाज्य

होता है, भले ही इसकी उत्पत्ति एक संयुक्त परिस्थिति में हुई हो। प्राचीन आचार्यों ने इसके स्वरूप का वर्णन इसी प्रकार से किया है। अतः सौन्दर्य की धारणा एक विशेष प्रकार की होती है जो अखण्ड है और किसी वस्तु को निर्दिष्ट नहीं करती। सौन्दर्य का ज्ञान से सम्बन्ध मान लेने पर एक अन्य पक्ष का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। भारतीय विचारकों ने विशेषतः नैयायिकों ने ज्ञान को आत्मा का गुण माना है। परन्तु ज्ञान और आत्मा के अन्य गुणों में अनिवार्यतः अन्तर है। कोई भी ज्ञान वस्तु के बिना नहीं हो सकता। अतः ज्ञान का सम्बन्ध एक ओर तो वस्तु या विषय से है तो दूसरी ओर आत्मा से। इस प्रकार ज्ञान की स्थिति न तो विशुद्ध आत्मपरक है और न वस्तुपरक। यह एक प्रकार से अन्योन्याश्रित है, एक ओर तो कलावस्तु से इसका समवाय सम्बन्ध होता है तो दूसरी ओर ज्ञाता या आस्वादक से।

इससे अर्थ के एक अन्य सिद्धान्त का स्पष्टीकरण हो जाता है। वस्तु या प्रतीक अनेक प्रकार के अर्थों को उत्पन्न करता है। जब कोई प्रतीक प्रेरक बनकर उपस्थित होता है तब अर्थ तरंगों की भाँति उत्पन्न होते जाते हैं। प्राचीनों ने अर्थों के तीन प्रकार अभिधा, लक्षणा और व्यंजना या ध्वनि माने हैं। इन सभी के साथ अथवा इनमें से प्रत्येक के साथ दूसरे प्रकार का अर्थ-ज्ञान जुड़ा रहता है। यही सौन्दर्य है। अब यह स्पष्ट हो जाता है कि संगीत के साथ कोई अन्य अर्थ जुड़ा नहीं रहता जैसा कि सामान्य भाषा के साथ जुड़ा रहता है, परन्तु संगीत का अर्थ उसका सौन्दर्य ही है जो उसके साथ ही संयुक्त रहता है। इस प्रकार सामान्यतः सभी कलाओं में और विशेषतः नाटक में कलावस्तु अथवा कलाप्रतीक विभिन्न अर्थों को जन्म देता है जो अन्ततः सौन्दर्य-ज्ञान कराने में सहायक होता है। इसी से पुनः अनुकूल या प्रतिकूल सुख-दुखात्मक अनुभूति होती है। प्रस्तुत सुखदुखात्मक अनुभूति ही एक उत्कृष्ट सौन्दर्यानुभूति में विकसित हो जाती है, जिसका वर्णन 'दैवी-सिद्धि' शब्द द्वारा भली प्रकार किया जा सकता है। यह ध्यान देने की बात है कि सुख, दुःख अथवा सिद्धि एकांततः आत्मा के गुण हैं। कला-जगत् में इनका सम्बन्ध एकांततः आस्वादक से है विषय अथवा कला-वस्तु से नहीं है। भले ही कलावस्तु इन तत्त्वों को जन्म देती है। दैविकी

सिद्धि ही कला का अन्तिम प्रयोजन है और यही अन्तिम आधार है जिससे केवल प्रेक्षक या आस्वादक मात्र ही कला का मूल्यांकन कर सकता है। भरत ने इसी आशय को स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार से व्यक्त किया है—

'तस्मात् लोक प्रमाणं हि ज्ञेयं नाट्य प्रयोक्तृभिः।'[1]

इस प्रकार नाट्य में रस कला-प्रतीक या कलावस्तु का प्रतिनिधित्व करता है। यही नाट्यकला का सारभूत तत्त्व भी है। स्थायीभाव कलावस्तु का अर्थ है जो क्रमशः सौन्दर्य, सुख-दुख और सिद्धि में परिणत या विकसित होता जाता है। नाट्यकला में रस से सिद्धि तक के सभी तत्त्व समान महत्त्व रखते हैं। इसीलिए इस निबन्ध का शीर्षक 'रस-सिद्धि' के रूप में दिया गया है। इसका आशय रस से लेकर सिद्धि तक के तत्त्वों की व्याख्या से है और साथ ही दूसरा आशय रस की सिद्धि से भी है।

---

१. ना० शा० २५।१२९.

१० | कला का हेतु

कला का हेतु क्या होना चाहिए ? यह प्रश्न प्रायः पूछा जाता है। कला कला के लिए है, कला जीवन के लिए है अथवा कला नीति के लिए है, ये ही तीन उत्तर इसके दिये जाते हैं। परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कला-हेतु-विषयक प्रश्न संदिग्ध और 'लाजिकल पोजिटिविस्ट' जिसे निरर्थक कहते हैं, उस प्रकार का है। वास्तव में कला का हेतु हो ही नहीं सकता। हेतु की कल्पना व्यक्ति से सम्बद्ध है, वस्तु से नहीं। हीरे का हेतु क्या है ? यह पूछना जितना हास्यास्पद है उतना ही कला का हेतु क्या है यह पूछना भी है। फिर भी कला का हेतु क्या है यह प्रश्न पूछा जाता है। इस प्रश्न के दो प्रश्न बनते हैं १—कला का हेतु अथवा २—कलाकार का हेतु ? कला का हेतु प्रतिपादित करने वाले इनमें से किसी एक का ही उत्तर देते हैं। इसके अतिरिक्त कला का हेतु क्या है ? यदि यही प्रश्न लें तो स्पष्ट होगा कि हेतु शब्द का प्रयोग प्रयोजन (Purpose) के अर्थ में भी होता है, यदि कला की प्रेरणा कौनसी होती है यह प्रश्न किया जाय तो सोचना पड़ेगा कि कलाकार की किस इच्छा से कला का जन्म होता है। इस प्रश्न के एक रूप में कलाकार की मानसिक पृष्ठभूमि किस प्रकार की होती है इसका भी मानसशास्त्रीय विचार अन्तर्भूत होता है। इसके विपरीत इसी प्रश्न के दूसरे रूप में उस बात पर भी विचार करना पड़ेगा जिसमें कलाकार अपनी अभिव्यक्ति की आकांक्षा को पूरा करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। कला का हेतु आनन्द मानने वाले प्रायः इसी अर्थ से कला-हेतु पर सम्भवतः विचार करते हैं। इच्छा-पूर्ति के लिए किये गये प्रयत्न का आनन्द सहचर रूप होता है और उसी से सम्भवतः कला का हेतु आनन्द है, इस प्रकार का सिद्धान्त उत्पन्न हुआ होगा। हेतु शब्द का अर्थ यदि 'ध्येय' (Purpose) लिया जाय तो एक निराले प्रकार का भ्रम उत्पन्न होता है। ध्येय (Purpose) की कल्पना व्यक्ति-सापेक्ष होती है (Relative to Indi-

vidual) जाति सापेक्ष (Class Concept) नहीं, ऐसा मेरा विचार है। एक व्यक्ति का ध्येय हो सकता है, परन्तु यदि पूछा जाय कि मनुष्य का क्या ध्येय है ? तो इसका उत्तर देना कठिन है। कांट ने इस प्रकार का प्रश्न अपने (Critic of Pure Reason) में पूछा है और अन्त में उसका उत्तर इस प्रकार दिया है कि जो कल्पना सान्तों के लिए की जाती है उसको अनन्तों पर लागू करना उचित नहीं है। ध्येय (Purpose) की कल्पना जाति-सापेक्ष नहीं है, अतः कला का इस प्रकार का कोई ध्येय हो नहीं सकता, यह मेरी धारणा है। कलाकारों का व्यक्तिगत ध्येय हो सकता है, किंबहुना किसी कलागत कला-विशेष का भी ध्येय हो सकता है, परन्तु इस प्रकार के कला-विशेष के साकल्य को कोई स्वतन्त्र और एक ही ध्येय होना चाहिए, यह आवश्यक नहीं है। परिणामतः कला का ध्येय जीवन के लिए, नीति के लिए, अथवा कला कला के लिए इनमें से एक भी विचार-सरणी उपयुक्त नहीं है। अथवा मुझे लगता है कि इससे सम्बद्ध प्रश्न पर ठीक ढंग से विचार ही नहीं किया गया है।

यह प्रश्न कभी-कभी दूसरा स्वरूप धारण करता है। इसके अनुसार तर्कशास्त्र सत्य का, कला-स्वरूपशास्त्र सौन्दर्य का और नीतिशास्त्र शिव का ध्येय हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। परन्तु इसमें भी मजे की बात यह है कि सत्य, शिव और सुन्दर ये एक ही परमेश्वर के तीन रूप हैं, यह प्रतिपादित किया जाता है। इसी से यह भी ध्वनि निकलती है कि सारे मूल्य एक ही हैं। वस्तुतः नीतिशास्त्र शिव का और कला-स्वरूप शास्त्र सौन्दर्य का ध्येय नेत्रों के समक्ष रखता है। इसका तात्पर्य यह है कि मूलभूत नीतिशास्त्र विषयक विधान में शिव विधेय होता है और मूलभूत कला विषयक विधान में सुन्दर विधेय होता है। 'सत्य' क्या है ? यह प्रश्न तो शिव और सुन्दर इनकी अपेक्षा भी अधिक संदिग्ध है। प्रथम सत्य का अर्थ करना आवश्यक है। सत्यं शिवं सुन्दरं यह मूलभूत मराठी अथवा संस्कृत की त्रयी नहीं है, वरन् पाश्चात्य है। और इस त्रयी में सत्य शब्द 'ट्रुथ' (Truth) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सत्य शब्द का प्रयोग हम वास्तविक (Real) अर्थ में भी करते हैं अतः सत्य (Truth) और सत्य (Real) ये दो भेद इसके समझने चाहिएँ। इसके अतिरिक्त सत्य शब्द (True) के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, (उदाहरणार्थ, यह सत्य है

This is True) और Truth के अर्थ में भी। Truth अर्थात् 'That which is true' इस वाक्यगत That अर्थात् True इस विशेषण का उद्देश्य है। इसके Truth का वस्तु और ज्ञान इन दोनों में निहित साम्य (Correspondence) अर्थ भी है। सारांशत: अंग्रेजी के True और Truth शब्द अत्यन्त संदिग्ध हैं, यह निर्विवाद है।

यद्यपि 'सत्यं शिवं सुन्दरं' के अद्वैत की सदैव कल्पना की जाती है तो भी वे एक ही अर्थ के द्योतक शब्द नहीं हैं, यह मेरा प्रतिपाद्य है। उदाहरणार्थ, 'कमल' उद्देश्य को उपर्युक्त तीनों विधेय लागू करके देखें। 'कमल सुन्दर है' और 'कमल शिव है' ऐसा हम कह सकते हैं। परन्तु कमल सत्य (True) है ऐसा नहीं कह सकते। कमल सत्य Real अर्थात् वास्तविक है, इसी अर्थ में कहा जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि सत्य (True) यह विशेषण मनुष्य-निर्मित विधान के लिए ही लागू हो सकता है। और 'शिव' तथा 'सुन्दर' का तात्पर्य 'सत्य' (True) नहीं है, यह भी अनायास ही सिद्ध हो जाता है। क्योंकि जिन-जिन विधानों में शिव अथवा सुन्दर ये विधेय हो सकते हैं उन-उन विधानों में सत्य (True) यह विधेय नहीं हो सकता। जो सत्य (True) अथवा वास्तविक (Real) इन दोनों अर्थों में हो सकेगा वह शिव अथवा सुन्दर इन दोनों अर्थों में भी प्रयुक्त होगा। जो-जो शिव है वह सत्य (दोनों अर्थों में) अथवा सुन्दर हो सकेगा। अथवा जो सुन्दर ह वह सत्य (दोनों अर्थों में) अथवा शिव हो सकेगा। परन्तु उससे सत्य (दोनों अर्थों में) शिव अथवा सुन्दर इनका ऐकात्म्य उत्पन्न नहीं होना चाहिये। उपर्युक्त सभी विधानों में (जो शिव है इत्यादि में) 'जो' शब्द प्रयुक्त हुआ है, प्रस्तुत 'जो' उद्देश्य निदर्शक है विधेय-निदर्शक नहीं; प्रस्तुत 'जो' वस्तु-निदर्शक है, विशेषण-निदर्शक नहीं। इससे मैं जो अनुमान लगाता हूँ वह यह है कि सत्य (दोनों अर्थों में) और शिव ये सौन्दर्यवाचक विधान में उद्देश्य का भाग हो सकते हैं और सत्य (That which is true) और सुन्दर ये शिववाचक विधान में उद्देश्य का भाग हो सकते हैं। परन्तु शिव और सुन्दर ये सत्यवाचक विधान में उद्देश्य का भाग हो नहीं सकते। 'सत्यं शिवं सुन्दरं' यह त्रयी एकात्म नहीं है। इस विवेचन से इतना तो सिद्ध ही होगा। किसी भी कला अथवा शास्त्र के प्रयोजन के विवेचन में 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का निर्देश करना उपर्युक्त भ्रम के कारण मुझे उपयुक्त नहीं लगता।

११ | काव्य-दर्शन के क्षेत्र में वामन के योगदान का स्वरूप

११ काव्य-दर्शन के क्षेत्र में वामन के योगदान का स्वरूप

काव्य-दर्शन के आरम्भिक विवेचकों में वामन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे भरत और भामह के उपरान्त हुए परन्तु वे निश्चित रूप से अभिनवगुप्त, आनन्दवर्धन तथा मम्मट से पूर्ववर्ती रहे हैं। इनका समय लगभग आठवीं शताब्दी ईस्वी सन् रहा है। 'दीप्तरसत्वं कान्तिः' इस वामन की उक्ति से अनेक आधुनिक लेखक उन्हें रस-सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं। परन्तु वास्तव में इस प्रकार के प्रभाव से वे बहुत दूर थे। प्राचीन परम्परानुसार वे रीति-सिद्धान्त के समर्थक माने जाते हैं और जहाँ तक अलंकारों का सम्बन्ध है वे भामह के अनुयायी समझे जाते हैं। परन्तु यह दृष्टिकोण भी नितान्त बाह्य है, क्योंकि इसका आधार गुण, रीति, अलंकार आदि शब्द हैं, जिनका प्रयोग उन्होंने तथा भामह ने अपनी-अपनी रचनाओं में किया है। मेरे विचार में वामन का आशय इन शब्दों के विषय में कुछ भिन्न ही है। मैं वामन की रचना में निहित इन शब्दों का जो विशिष्ट आशय है उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करूंगा और इससे स्पष्ट हो जायेगा कि वामन का काव्य-दर्शन परम्परागत मान्यता से पर्याप्त भिन्न है।

प्रस्तुत मत का स्पष्टीकरण करने के लिए आवश्यक है कि हम इनके मत की पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों से भिन्नता दिखायें। वामन के पूर्ववर्ती आचार्य भामह ने काव्य की परिभाषा में शब्द तथा अर्थ का सहभाव आवश्यक माना है।[1] स्वयं भामह अपनी काव्य-परिभाषा की अपूर्णता से परिचित थे, अतः उन्होंने लिखा है कि केवल शब्द-चयन काव्य के लिए पर्याप्त नहीं होता। इन्हें अलंकारों से सुन्दर या आकर्षक बनाना चाहिए। इनके मत में काव्य-रचना स्त्री के मुख के सदृश होती

---

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—काव्यालंकार : भामह।

है। स्त्री का मुख कितना ही कान्तिमान् क्यों न हो, आभूषणों के बिना वह आकर्षक नहीं होता।[१]

अलंकार काव्य के आभूषण हैं। यद्यपि वामन ने भी अपनी रचना में 'काव्य के अलंकारों' की व्याख्या की है तथापि वे काव्य की परिभाषा करते समय भामह से सहमत प्रतीत नहीं होते। इनके मतानुसार काव्य की परिभाषा बहुत व्यापक है। काव्य केवल शब्द तथा अर्थ के सहभाव का नाम नहीं है[२] वरन् इनके समग्र रूप का नाम है जिसमें गुण तथा अलंकार (सौन्दर्य) भी निहित होते हैं।[३] काव्य या साहित्य को केवल शब्द तथा अर्थ से निर्मित जो कहा जाता है उसे गौण ही समझना चाहिए। वामन इस तथ्य से पूर्णतः अवगत थे कि यदि काव्य-परिभाषा से 'सौन्दर्य'[४] तत्त्व को हटा दिया जाय तो कतिपय व्याकरण और तर्क-शास्त्र के नियम भी काव्य-साहित्य की परिभाषा के अन्तर्गत आ जायेंगे।[५] इस प्रकार आचार्य वामन साहित्य के दो तत्त्वों से सुपरिचित थे—१. एक मूल वस्तु या पदार्थ तत्त्व है, जिससे साहित्य का निर्माण होता है और २. दूसरा मूल्य तत्त्व या सौन्दर्य तत्त्व है जिसके लिए साहित्य का निर्माण किया जाता है। द्वितीय तत्त्व की उपलब्धि काव्य की परिभाषा या लक्षण में ही हो जाती है। परन्तु एकमात्र साहित्य के ही ये दो तत्त्व नहीं होते वरन् साहित्य तथा अन्य कलाओं में ये सामान्यतः मिलते ही हैं। प्रायः प्रत्येक कला का इन दो तत्त्वों के आधार पर अध्ययन किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, हम मूर्तिकला को ले सकते हैं। जब एक निर्मित मूर्ति का निरीक्षण किया जाता है और उसे एक कलात्मक रचना समझा जाता है तब उसके समीक्षण से व्यक्त विचारों को एक ही शब्द 'सुन्दर' या 'कुरूप' में संक्षिप्त किया जा सकता है। परन्तु मूर्ति के निर्माण में पत्थर आदि पदार्थों का भी योग होता है

---

१. 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम्'।

२. काव्या०, सू० वृ० ३.१.४

३. काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार संस्कारतयो शब्दार्थयोवर्तते। (का. सू. वृ. १.१.१)

४. यह ध्यान देने योग्य है कि वे अलंकार का प्रयोग 'सौन्दर्य' के अर्थ में करते हैं।

५. उदाहरणार्थ, इकोयणचि, यथागौस्तथा गवयः।

मूर्तिकला के प्रशिक्षण-केन्द्र में यदि किसी व्यक्ति को मूर्ति-निर्माण की कला सिखाई जाती है तब अनेक बातों पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। १. मूर्ति के निर्माण में किस प्रकार के पत्थर का प्रयोग किया जाय ? २. मूर्ति के विभिन्न अंगों में कितना अनुपात होना आवश्यक है ? इत्यादि। इस प्रकार के सभी प्रश्न मूर्ति-निर्माण की कला से सम्बद्ध ही माने जाते हैं। परन्तु एक मूर्ति तब तक कला का रूप धारण नहीं करती जब तक उसमें कुछ न कुछ सौन्दर्य तत्त्व निहित न हो। परन्तु महत्त्व-पूर्ण समस्या यह है कि प्रस्तुत सौन्दर्य तत्त्व के अध्ययन की किसी भी कला या काव्य के दर्शन में उपेक्षा नहीं की जा सकती। यही वह सौन्दर्य तत्त्व है जिस पर वामन ने अपने ग्रंथ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति के प्रथम सूत्र में विशेष बल दिया है। इनके सिद्धान्त का महत्त्व इसी में निहित है कि इस सौन्दर्य तत्त्व का कला के अन्य तत्त्वों से किस प्रकार समन्वय किया जाय। इन्होंने लिखा है—'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'[1] काव्य को काव्य के रूप में तभी स्वीकार किया जा सकता है जब उसमें अलंकार निहित हो। यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि इसमें 'अलंकार' का अर्थ उपमा, रूपक आदि अलंकारों से नहीं है। काव्य-दर्शन के क्षेत्र में प्रयुक्त अलंकार शब्द व्यापक अर्थ देता है। इसका दो भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है। एक तो सामान्य अर्थ उपमा आदि अलंकार है। इसका इतना अधिक प्रचलन हुआ कि लोगों ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया कि अपने पूर्ववर्ती भामह से भिन्न अर्थ में वामन ने इसका प्रयोग किया है। वे इसका प्रयोग केवल उपमादि अलंकारों के ही अर्थ में नहीं करते। क्योंकि अपने दूसरे ही सूत्र में वामन ने अलंकार की स्पष्ट व्याख्या की है : "सौन्दर्यमलंकारः।' इस प्रसंग में अलंकार का अर्थ 'सौन्दर्य' ही है।

प्रथम और द्वितीय सूत्र में प्रयुक्त अलंकार शब्द का आशय उप-मादि अलंकारों से नहीं है, यह बात तीसरे सूत्र से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। इसमें इन्होंने पुनः अलंकार शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु यहाँ परम्परागत सामान्य अर्थ ही है। यहाँ यह सौन्दर्य-वृद्धि का साधन है। इन्होंने 'सः' सर्वनाम का प्रयोग किया है जिसका सम्बन्ध अलंकार

---

१. का. सू. वृ १.१.१

से है और जो सौन्दर्यवाचक है। इस प्रकार एक ही सूत्र में अलंकार शब्द के दो बार प्रयोग से दो अर्थ स्पष्ट हैं। एक का आशय उपमादि अलंकारों से है, जो साधन रूप है और दूसरा सौंदर्य का समानार्थी है, जो काव्य का अन्तिम उद्देश्य है। वामन ने लिखा है: "इस सौन्दर्य तत्त्व की उपलब्धि दोषों के त्याग और गुणों तथा अलंकारों (उपमादि) के ग्रहण से होती है[1]।" उपमादि अलंकार काव्य के आवश्यक तत्त्व नहीं हैं, अधिक से अधिक ये काव्य के सौंदर्य को बढ़ाने में सहायता मात्र करते हैं। दूसरी ओर गुण तत्त्व काव्य का नितांत आवश्यक तत्त्व है, क्योंकि यह आन्तरिक है और इसी से काव्य के सौंदर्य की अभिव्यक्ति होती है। वामन ने स्पष्ट कहा है कि "गुण अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है क्योंकि इसके बिना काव्य में सौंदर्य नहीं आ सकता।" दूसरी ओर यद्यपि अलंकार काव्य का सौंदर्य बढ़ा सकते हैं तथापि सुन्दर काव्य बिना अलंकारों के भी सम्भव है। अतः काव्य-दर्शन के क्षेत्र में सौंदर्य और गुण का विवेचन आवश्यक हो जाता है। अलंकारों के विषय में विवेचन आवश्यक नहीं है। वामन ने लिखा है कि जिस प्रकार एक सुन्दर स्त्री अलंकारों के बिना भी सुन्दर लगती है, उसी प्रकार विशुद्ध कविता भी अलंकारों के बिना ग्राह्य हो जाती है।[2]

यह स्पष्ट रूप में समझना चाहिए कि वामन के मन में काव्य या साहित्य एक समग्र भाग है, जो विभिन्न अंगों से बना है। सम्पूर्ण वाक्य के दो विभाग शब्द तथा अर्थ अपने आप में पूर्ण उप-भाग हैं। इस प्रकार इन दो उप-भागों से एक सम्पूर्ण भाग बनता है, जो काव्य का शरीर है। जिस प्रकार एक वस्तु के गुण होते हैं उसी प्रकार इन दो उप-भागों के भी ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुण होते हैं (संक्षिप्तता के लिए ही सम्भवतः वामन ने शब्द तथा अर्थों के गुणों के नाम एक जैसे ही दिए

---

१. यह वामन के सूत्र ३. १. ३ का० सू० वृ० से तथा इसकी व्याख्या से स्पष्ट है। यहाँ वामन ने स्पष्ट किया है कि गुणों से ही काव्य-सौन्दर्य की निर्मिति होती है। 'पूर्वे नित्याः' इस सूत्र की इनकी निजी व्याख्या (३. १. ३) इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट कर देती है। इन्होंने लिखा है: 'पूर्वे गुणा नित्याः तैर्विना काव्यशोभा ऽनुपपत्तेः' दे० ३. १. १ और ३. १. २ भी।

२. युवतेरिवरूपभंग काव्यं, स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव। का० सू० वृ० ३. १. २.

हैं)। इस प्रकार काव्य का निर्माण दो भागों—शब्द तथा अर्थ से प्रतीत होता है। फिर भी सूक्ष्म विश्लेषण से ज्ञात होगा कि काव्य-निर्माण में चार अंश होते हैं—१. शब्द २. शब्दों का गुण ३. अर्थ और ४. अर्थों का गुण। जब इन चार अंशों से एक पूर्ण अंशी का निर्माण होता है तब यह अंशी ही काव्य कहलाता है और इस काव्य-अंशी से काव्य-सौंदर्य या मूल्य व्यक्त होता है जिसे प्रभाव गुण या पाँचवाँ अंश कह सकते हैं।

जैसा कि आरम्भ में ही कहा गया है वामन ने काव्य के शरीर-तत्त्व और मूल्य-तत्त्व को स्पष्टतः पृथक्-पृथक् माना है। यदि किसी व्यक्ति को काव्य-रचना की शिक्षा देनी है तब काव्य-रचना के विभिन्न तत्त्वों को समझाने पर विशेष बल देना होगा न कि काव्य के मूल्य-तत्त्व पर। ऐसी स्थिति में रचना-तत्त्व अधिक महत्त्व ग्रहण करता जाता है। मैंने आरम्भ में इस ओर संकेत दे दिया है फिर भी अपने कथन को उदाहरणों से स्पष्ट करना अपेक्षित है।

हम पुष्पों का सौंदर्य ग्रहण करने के लिए पुष्प-वृक्ष लगाते हैं। सौंदर्य-ग्रहण के उद्देश्य से प्रेरित होकर ही हम वृक्षारोपण करते हैं। परन्तु हम सौंदर्य का रोपण नहीं करते। हमें बीज या पौधे को ही बोना पड़ेगा। जब हम बीज बोते हैं तो इस बात पर ध्यान देना भी आवश्यक हो जाता है कि इसकी वृद्धि के लिए किस प्रकार की मिट्टी और ऋतु अपेक्षित है। साथ ही इसे सींचने के लिए जल की मात्रा पर भी ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। परन्तु सौंदर्य का प्रदर्शन वह तभी कर पाता है जब वह पौधा बड़ा होता है और फूल देने लगता है। यही स्थिति काव्य की भी होती है। यदि काव्य-निर्माण की सामान्य बातों को समझना है तो कोई भी प्रथम सौंदर्य तत्त्व से आरम्भ नहीं करेगा। प्रथम उसे बीज, पौधे, मिट्टी, पानी, खाद आदि से परिचित होना पड़ेगा। जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है इसमें बीज, पौधा, जल या खाद शब्द ही होते हैं। व्यक्ति को शब्द अथवा 'शब्दार्थ' के अंश के निर्माण की शिक्षा देना आवश्यक होगा। अर्थ का आधार शब्द या ध्वनियाँ होंगी और काव्य-सौंदर्य का आधार ये दोनों ही होंगे। इस प्रकार काव्य में सौंदर्य तत्त्व का आधार शब्द-तत्त्व होंगे। वामन इस तथ्य से परिचित थे। जब उन्होंने काव्य में मूल्य-तत्त्व (सौंदर्य-तत्त्व) पर बल दिया तो साथ ही उसके

शरीर या रचना-तत्त्व पर भी बल दिया और इसी को उन्होंने रीति नाम से अभिहित किया है। उनके मत में काव्य तभी काव्य बनता है जब उसमें सौंदर्य होता है और साथ ही वे इस बात पर भी बल देते हैं कि रीति काव्य की आत्मा है। इसका तात्पर्य हुआ कि रीति वह तत्त्व है जिसके बिना काव्य-रचना का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। वामन के विवेचन से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि वे गुणों को सौंदर्य तत्त्व का मूल कारण मानते हैं और गुणों का सम्बन्ध वे शब्द तथा अर्थ से दर्शाते हैं। उन्होंने गुण की परिभाषा काव्य-सौंदर्य के कारण के रूप में की है।[1] उन्होंने इसकी परिभाषा काव्य के मूल कारणों के रूप में नहीं की। काव्य का कारण और काव्य-सौंदर्य का कारण इन दोनों में निहित अन्तर को समझना आवश्यक है। इन गुणों का सम्बंध दो उपभागों—शब्द तथा अर्थ—से है जिनसे काव्य की रचना होती है। इस प्रकार दोनों गुण और काव्य-रचना शब्द और अर्थ इन दो उपभागों के परिणाम हैं। यद्यपि इन दोनों में एक का सम्बंध गुण से है तो दूसरा मूल-वस्तु है। इसी काव्य-रचना और गुणों से काव्य-सौंदर्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार काव्य-सौंदर्य के दो कारण होते हैं—१. स्वयं काव्य और २. काव्य-गुण। इससे समवायी और असमवायी कारणों की ओर ध्यान जाता है। आचार्य वामन प्रतिपादित काव्य-सिद्धांतगत विशिष्ट मत को समझने के लिए भारतीय तर्कशास्त्र में निरूपित कारण सिद्धांत को समझना भी अपेक्षित है।

इस सिद्धांतानुसार जिसे हम प्रभाव कहते हैं उसके मूल में दो कारण निहित होते हैं। उदाहरणार्थ, हम एक वस्त्र का खण्ड लें जो कि प्रभावशाली है। सूत्र इस वस्त्र-खण्ड का एक मूल कारण समझा जाता है। क्योंकि यदि केवल एक सूत्र मात्र हो तो वह वस्त्र-खण्ड नहीं बन सकता। अतः सूत्र को मूल-वस्तु या समवायी कारण समझा जाता है और सूत्रों का मेल असमवायी कारण कहलाता है। वामन-प्रतिपादित सिद्धांतानुसार शब्द-तत्त्व (साउंडपेटर्न) और अर्थ-तत्त्व, जिनसे काव्य-निर्माण होता है, काव्य के मूल कारण हैं। जिस प्रकार कि सूत्र किसी वस्त्र के मूल कारण

---

१. काव्यशोभायाः कर्तारोधर्मा गुणाः। ३. १. १. का. सू. वृ.

होते हैं अथवा किसी बर्तन के निर्माण में उसके दो खण्ड-कारण होते हैं। सूत्रों का समन्वय या मेल वस्तु-कारण (मटीरियल कॉज) नहीं कहलाता क्योंकि भारतीय तर्कशास्त्र के अनुसार यह गुण है और गुण को वस्तु-कारण नहीं कहा जा सकता। यह या तो प्रभाव है जैसा कि वस्त्र का रंग वस्त्र का प्रभाव है या इसे उसका समवायी कारण कह सकते हैं। दूसरी ओर मूलवस्तु (सबस्टेंस) को केवल वस्तु-कारण (मटीरियल कॉज) कह सकते हैं। उसका सम्बंध भले ही गुण या मूलवस्तु से हो। इससे स्पष्ट है कि वामन-निरूपित शब्द-गुण और अर्थ-गुण काव्य के वस्तु-कारण (मटीरियल कॉज) नहीं हो सकते हैं। वे काव्य-सौंदर्य के भी समवायी कारण अथवा वस्तु-कारण (मटीरियल कॉज) नहीं हो सकते। जैसे, वस्त्र स्वयं वस्त्र के रंग का समवायी कारण है, वैसे ही काव्य-रचना भी काव्य-सौंदर्य का समवायी कारण है। साथ ही जैसे सूत्र का रंग वस्त्र के रंग का असमवायी कारण होता है वैसे ही शब्द तथा अर्थ के काव्यमय गुण काव्य-सौंदर्य के असमवायी कारण होते हैं।

वामन के मत में समग्र काव्य की अपने आप में एक सत्ता है, अतः जिन अंशों से काव्य-निर्माण होता है वे भी स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। शब्द तथा अर्थ के गुणों का अस्तित्व इन्हीं अंशों में निहित होता है। इस प्रकार काव्य-जगत् में शब्द को मूल वस्तु (सबस्टेंस) समझना चाहिए। अन्यथा एक गुण के दूसरे गुण पर अध्यारोपण का दोष उत्पन्न होने का भय रहेगा।[1] यद्यपि वास्तव में शब्द को गुण कहा जाय या मूल वस्तु (सबस्टेंस) इस विषय में संदेह हो सकता है, जैसा कि भारतीय तर्कशास्त्र प्रस्तुत करता है। फिर भी काव्य का अध्ययन तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कि शब्द को मूलवस्तु (सबस्टेंस) का पद न दिया जाय। ध्वनि अथवा शब्द ही किसी भी प्रकार के काव्य का मूल आधार हो सकता है। साथ ही काव्यशास्त्र के क्षेत्र में 'अर्थ' शब्द से—जो कि काव्य-समग्र का एक अन्य अंश है—'आशय' अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए न कि वस्तु। क्योंकि अर्थ का सम्बंध ज्ञान से होता है और यह आत्मा का गुण है। इस प्रकार काव्य-समग्र का निर्माण विशुद्ध और साधारण गुणों से समझा जा सकता है। परन्तु जैसा कि ऊपर

१. गुणेगुणानंगीकारात्।

काव्यशास्त्र के सम्बंध में कहा गया है, दोनों को, शब्द और अर्थ को मिलाकर अथवा पृथक्-पृथक् रूप में, काव्य की मूलवस्तु (सबस्टेंस) ही कहना चाहिए न कि गुण। अन्यथा काव्यशास्त्र का अध्ययन असम्भव हो जाएगा अथवा इससे तर्कशास्त्र के नियमों का उल्लंघन होगा, क्योंकि एक गुण में ही दूसरे गुण की स्थिति नहीं हो सकती। यदि इन्हें गुण माना जाय तो काव्य-सौंदर्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इसके लिए भी उसी (सौन्दर्य) के आधार की आवश्यकता पड़ेगी। अतः समग्र काव्य को सामान्य अर्थ में मूलवस्तु (सबस्टेंस) नहीं कह सकते, वरन् इसे इस प्रकार की मूलवस्तु (सबस्टेंस) मान सकते हैं जो कि अंशों से निर्मित है और जिसमें प्रभावोत्पादक स्वभाव निहित है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि इस प्रकार के समग्र काव्य का वस्तु-कारण शब्द और अर्थ को समझा जाना चाहिए। अतः मैं समझता हूँ कि वामन ने भारतीय तर्कशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया है और उन्होंने सांख्य और वैयाकरणों के समान ही शब्द को मूलवस्तु (सबस्टेंस) माना है। इसी प्रकार उन्होंने अर्थ को भी मूलवस्तु ही माना है जैसा कि वैयाकरण इसे 'विवर्त' के रूप में मानते हैं जो कि शब्द का प्रभाव होता है।[1] काव्यशास्त्र के क्षेत्र में शब्द और अर्थ पर तब तक पृथक्-पृथक् विचार करना आवश्यक हो जाता है जब तक कि अर्थ की शब्द से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो जाती। सामान्य प्रयोग में हम अर्थ को वस्तु नहीं मानते। शब्द ही उसका मूल आधार है। इसी प्रकार काव्य-समग्र अनेक अंशों से बना है जिनमें से कतिपय अंश व्यक्त प्रतीत होते हैं तो कतिपय अव्यक्त। अतः काव्य-समग्र को एक असामान्य या विशिष्ट प्रकार का तत्त्व समझना चाहिए। चूँकि काव्य एक असामान्य विशिष्ट वस्तु है, अतः सौन्दर्य, जो कि काव्य का ही एक अन्तिम अंश है, सामान्य अर्थ में 'गुण' नहीं कहला सकता। क्योंकि सौन्दर्य को पीला या हरा रंग के सदृश गुण रूप में नहीं मान सकते। इसका अनुभव किया जा

---

१. दे० वाक्यपदीय १.

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दानुपमं यदक्षरम्

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतेन।

सकता है, परन्तु इसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसके कारणों का पता लगाया जा सकता है, परन्तु इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अतः इसे भिन्न प्रकार का गुण माना जाय। मेरे मत में वामन के मन में यही विचारधारा थी जिससे प्रेरित होकर इन्होंने ३. १. २६, ३. १. २७ और ३. १. २८ सूत्रों की रचना की है।[1] शब्द गुणों से सम्बद्ध अध्याय के अन्त में वामन ने शब्द-गुणों की सत्ता के विषय में प्रश्न उठाया है और प्रमाण माँगा है। इन अन्तिम तीन सूत्रों में इन्होंने प्रमाण भी प्रस्तुत कर दिया है। इनके मत में गुण वन्ध्या के पुत्र या शुक्ति में रजत-प्रतीति के सदृश अस्तित्वहीन या भ्रान्त नहीं हैं। इनकी सत्ता की प्रतीति इस तथ्य से होती है कि वे अनुभव किए जाते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि वामन का यह तर्क अर्थगुणों तथा काव्यमूल्य या सौंदर्य के विषय में भी दिया जा सकता है।

यद्यपि यह बताया जा चुका है कि काव्य-समग्र के शब्द, अर्थ, शब्द-गुण, अर्थ-गुण और सौन्दर्य ये ही भाग होते हैं तथापि इन सबका अस्तित्व शब्द (साउंड) पर ही आधारित होता है। इस मूल आधार के बिना न तो अर्थ का और न सौन्दर्य का स्वतन्त्र अस्तित्व है। काव्य-समग्र का रूप दो इंजिन वाले जैट विमान के सदृश है, जिसमें एक इंजिन को चलाने के लिए तथा नियन्त्रित रखने के लिए दूसरे इंजिन का आधार लेना पड़ता है। लेकिन दोनों इंजिन एक ही समय साथ-साथ किन्तु स्वतन्त्र काम करते हैं और जैट से गैस बाहर निकालते हैं जो आपस में मिल जाती है और एक लम्बी रेखा-सी बन जाती है। बाह्य दर्शक के लिए केवल विमान ही नहीं वरन् गैस की रेखा भी दर्शनीय वस्तु रहती है। परन्तु विमान को नियन्त्रित करने के लिए नियन्त्रण-'स्विच' युक्त इंजिन को नियन्त्रित करना आवश्यक होता है। इसी प्रकार काव्य-समग्र में जिस वस्तु पर संस्कार करना अपेक्षित होता है वह वस्तु शब्द ही है। क्योंकि शब्द ही अर्थ रूपी यान का प्रवर्तक है जो स्वयं आकार-हीन है, जिसका स्थूल रूप अदृश्य है। काव्यशास्त्र के

---

१. १. नासन्तः सह्वेद्यत्वात् ॥ २. नभ्रान्ता निष्कम्पत्वात् ॥ ३. न पाठधर्मा सर्वत्रादृष्टे।

किसी भी सिद्धान्त में इस शब्द-आधार का प्राथमिक महत्त्व है। परन्तु इसके लिए विभिन्न प्रकार के शब्दों की व्यवस्था या रचना (अरेंजमेंट) अपेक्षित होती है। इस प्रकार की रचना या व्यवस्था अपना एक विशिष्ट-स्वरूप रखती है। इसी विशिष्ट रचना-पद्धति को वामन ने रीति कहा है। इनके अनुसार यह विशिष्ट रचना-पद्धति तीन प्रकार की होती है। परन्तु यह तीन प्रकार की ही हो सकती है या इससे कम या अधिक इसका सम्बन्ध वर्गीकरण से है न कि मूल सिद्धान्त से। रचनागत इस वैशिष्ट्य का आधार वामन के मत में गुण है। इनके 'विशेषोगुण आत्मा' (१.२.८) इस सूत्र से यह तथ्य स्पष्ट है। इसी कारण काव्यशास्त्र में रीति और गुणों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इन्हीं सब विचारों को मस्तिष्क में रख कर ही वामन ने 'रीतिरात्माकाव्यस्य' इस सूत्र की रचना की होगी।[2] पद-रचना काव्य का शरीर है और उसकी विशिष्टता उसकी रीति है। इसका विश्लेषण गुणों की शब्दावली में भी हो सकता है। इस प्रकार 'रीतिरात्मा काव्यस्य' (१.२.६) इस सूत्र को पृथक् करके अध्ययन नहीं करना चाहिए वरन् 'काव्यंग्राह्यमलंकारात्' (१.१.१) और 'सौन्दर्यमलंकारः' (१.१.२) इन दोनों सूत्रों के साथ ही अध्ययन करना चाहिए। यदि १.२.६, १.१.१ और १.१.२ सूत्रों को एक साथ मिलाकर अध्ययन नहीं किया जायेगा तो वामन का समग्र सिद्धान्त गलत रूप में समझे जाने की सम्भावना हो जाती है। जैसा कि आजकल समझा जा रहा है। इसका परिणाम यह हुआ कि वामन को रीतिवादी या अलंकारवादी की उपाधि दी गई है। परन्तु तथ्य यह है कि वे न तो रीति के लिए रीति के, न अलंकारों के लिए अलंकारों के और न गुणों के लिए ही गुणों के प्रतिपादक रहे हैं। वे भामह की भांति अलंकारवादी नहीं थे। उन्होंने अलंकारों का अवश्य निरूपण किया है क्योंकि ये काव्य के मूल्य या सौन्दर्य की प्राप्ति के साधन हैं।

---

१. काव्य. सू. वृ. १. २. ८

२. वही १. २. ६

और इनसे भिन्न अन्य कोई मार्ग भी नहीं है जिससे सौन्दर्य का निमार्ण किया जा सके। इनके अनुसार गुण, रीति, अलंकार आदि साधन हैं, कारण हैं, जिनसे काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि होती है। आचार्य वामन को एकान्ततः रीति, अलंकार, रस अथवा गुणों का प्रतिपादक मानना उनके साथ अन्याय करना है।

परिशिष्ट—१

सौन्दर्य और साहित्य

[श्री बाळ सीताराम मर्ढेकर के विचार]

श्री मर्ढेकर ने साहित्यगत सौन्दर्य के मूल्यांकन के नये मानदण्डों के निर्धारण का अभिनव प्रयत्न किया है। इनके मतानुसार किसी भी कलाकृति का सौन्दर्य उसमें आविष्कृत 'सुसंघटना', 'रूप' या 'फार्म' पर अधिष्ठित होता है और साहित्यिक कलाकृति की 'सुसंघटना' (फार्म) का स्वरूप मूलत: आशय या भावानुभूति में ही उपलब्ध हो सकता है। इनकी मान्यता में प्रस्तुत सुसंघटना (फार्म) की खोज न तो अभिव्यक्ति-पद्धति में की जा सकती है और न अभिव्यक्ति-पद्धति तथा आशय के पारस्परिक संबन्ध में। आशय या अनुभूति में उपलब्ध 'सुसंघटना' आशय या अनुभूति-घटकों की लयबद्ध रचना में दिखाई देती है। प्रस्तुत लयबद्ध रचना का स्वरूप मूलत: तीन प्रकार का होता है, वे तीन प्रकार हैं: संवादलय, विरोधलय और समतोललय। स्पष्टता के लिए श्री मर्ढेकर के विवेचन का प्रमुख अंश नीचे उद्धृत किया जाता है। इनके मत में प्रमुख तीन प्रश्न हैं—

१. क्या अभिव्यक्ति-पद्धति में सुसंघटना (फार्म) की खोज की जा सकती है ?

२. क्या साहित्य में अभिव्यक्त आशय तथा उसकी अभिव्यक्ति-पद्धति के पारस्परिक संबन्ध में सुसंघटना का पता लगाया जा सकता है ?

३. क्या साहित्य में अभिव्यक्त आशय अथवा भावानुभूति के आधार पर सुसंघटना के स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है ?

श्री मर्ढेकर की मान्यता में प्रस्तुत प्रश्नों का समाधान इस प्रकार है :

१. केवल अभिव्यक्ति-पद्धति में सुसंघटना (फार्म) की खोज संभव नहीं है, क्योंकि अभिव्यक्ति-पद्धति के जितने अंग-उपांग होते हैं, उनका

नाम शैली है और शैली के गुण-धर्मों का सम्बन्ध शैली तक ही सीमित होता है। साहित्यिक रचना के सौन्दर्य-मूल्यांकन में उनका विशेष उपयोग नहीं होता। किसी भी साहित्यिक रचना को केवल शैली के आधार पर 'ललित रचना' की संज्ञा देना कठिन है। साथ ही जब हम किसी रचना को शैली-विशेष के कारण 'ललित रचना' की संज्ञा देकर उसका महत्त्व बढ़ाना चाहते हैं, तभी हमारे ध्यान में यह बात आयेगी कि उस रचना में शैली के जो गुण-धर्म हैं वे केवल शैली के गुण-धर्म न होकर किसी अन्य वस्तु के ही गुण-धर्म हैं।

शब्दों का चुनाव, विभिन्न अलंकारों का नियोजन आदि शैली के तत्त्व हैं। प्रत्येक लेखक आशय की अभिव्यक्ति के लिए ही प्रस्तुत साधनों का उपयोग करता है। शैली का मुख्य प्रयोजन है आशय या अनुभव की अभिव्यक्ति में इन्द्रियगोचर विवक्षितता लाना। सामान्यतः अनुभव का स्वरूप अस्पष्ट होता है, अतः अमूर्त, उलझे हुए, सूक्ष्म, बुद्धिगम्य अनुभवों को सुस्पष्ट यथोचित और सजीव स्वरूप प्रदान करने में ही शैली का उद्देश्य निहित है।

भाषा, अलंकार आदि के अतिरिक्त अभिव्यक्ति-पद्धति या 'निवेदन-पद्धति' के कतिपय अन्य घटक भी हैं। जब कोई लेखक अपनी रचना में प्रयुक्त शब्दों को एक विशिष्ट तालबद्ध रूप में रखेगा तो वह पद्यात्मक कहलायेगी और यदि बिना लय या आघात अथवा ह्रस्व-दीर्घ का विचार किये लिखेगा तो वह गद्यात्मक कहलायेगी। कतिपय लेखक अपने आशय की अभिव्यक्ति शब्द और हाव-भाव दोनों पर ध्यान रखकर करते हैं तो कतिपय केवल शब्दों का आधार लेकर ही। इनमें प्रथम प्रकार की रचना नाटक तो दूसरे प्रकार में उपन्यास, काव्य अथवा इतर साहित्य-प्रकार की रचना होती है। संक्षेप में कहा जाय तो लेखक भाषा, अलंकार पद्यमय, या गद्यमय रचना इत्यादि अनेक साधनों का आश्रय लेकर अपने आशय को अभिव्यक्त करता है। परन्तु किसी भी रचना की कलात्मकता या सौन्दर्य-निर्धारण के लिए प्रस्तुत सभी प्रकार के अभिव्यक्ति-पद्धति के साधन अनुपयुक्त हैं। दि डिवाइन कामेडी, आथेलो, वार एण्ड पीस, पैराडाइज़ लास्ट, ओड टु दि नाईटिंगेल, दि पिट एण्ड द पण्डुलम आदि सर्वश्रेष्ठ ललित-कृतियां हैं। परन्तु इनके लालित्य या सौन्दर्य का

निर्धारण करते समय महाकाव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि साहित्य-प्रकारों का विचार अधिक उपयोगी नहीं जान पड़ता। साहित्य-प्रकारों का प्रस्तुत वर्ग बनाना उपयुक्त नहीं है क्योंकि जो वर्ग या साहित्य-प्रकार (फार्म्स आव लिटरेचर) हम बनाते हैं उनके मूल में कोई भी व्यवच्छेदक तत्त्व नहीं है। यह सत्य है कि प्रस्तुत सभी साहित्य के प्रकार हैं; परन्तु इनमें जो भेद है वह केवल अभिव्यक्ति-पद्धति का ही है। और प्रस्तुत अभिव्यक्ति-पद्धति का किसी भी साहित्यिक रचना को कलाकृति के रूप में निर्धारित करने में अधिक उपयोग नहीं होता। जिस प्रकार किसी चित्र की कलात्मकता का निर्धारण 'वाटर कलर' या 'आइल पेन्ट' से करना पागलपन है अथवा किसी शिल्प कृति का मूल्यांकन पत्थर में कोरने, कांक्रीट या काँच में ढाल कर बनाने मात्र से करना नासमझी का लक्षण है ठीक उसी प्रकार लेखक द्वारा अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त महाकाव्य, नाटक या उपन्यास के सांचे से किसी रचना का मूल्य-मापन करना प्रगल्भता का ही निदर्शक होगा।

२. आशय और अभिव्यक्ति-पद्धति के पारस्परिक संबंध से सुसंघटना (फार्म) का स्वरूप निर्धारित करना भी विशेष उपयोगी नहीं होता। प्रस्तुत मत की सप्रमाण पुष्टि करने से पूर्व पाश्चात्य मनीषियों के इससे किञ्चित् भिन्न विचारों का निरूपण भी उपयोगी होगा।

साध्य—आशय और साधन—शैली के पारस्परिक सम्बन्ध से सुसंघटना (फार्म) का अनुमान लगाने के लिए आग्डेन और रिचर्ड्स के ग्रंथ 'दि फाउन्डेशन्स आव् एस्थेटिक्स' के विवेचन की स्मृति आना सहज है। इनके मत का सारांश है :

लेखक अपनी कृति में भाव अभिव्यक्त करता है और पाठक जब उस कृति को पढ़ता है तो उसके मन में भी वे ही भाव अवतीर्ण होते हैं। जब लेखक के मन का भाव और पाठक के मन का भाव दोनों एक रूप हो जाते हैं, तभी कलाकृति सफल बनती है, जिसे ललित साहित्य कहा जा सकता है। संक्षेप में कहें तो लेखक की अनुभूति और पाठक की अनुभूति की एकता का नाम ही ललित रचना है। इससे अभिप्राय निकला कि साहित्यिक सौन्दर्यांकन में अभिव्यक्ति-पद्धति और अभिव्यक्त आशय में अधिक से अधिक परस्पर सुसंबद्धता आवश्यक है तथा अभि-

व्यक्ति-पद्धति और आशय में यथासंभव घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर ही कृति में सौन्दर्य का अवतरण होता है। साध्य-साधन पर आधृत प्रस्तुत मीमांसा अर्थात् 'फन्क्शनेलिज्म' (Functionalism) तो काव्यशास्त्र के सौकर्यवाद या औचित्यवाद का ही अवतार है।

साहित्यिक समालोचना में निवेदन या अभिव्यक्ति 'गृहीत कृत्य' (स्वीकृत तथ्य) होती है, अर्थात् काव्य में जो अभीष्ट अभिव्यक्ति है, उसे अभिव्यक्त समझकर ही हम कृति की आलोचना करते हैं। यदि अभीष्ट आशय की अभिव्यक्ति ही नहीं हुई तो समालोचना किस बात की होगी। फलतः साहित्यिक रचना के जो 'गृहीत कृत्य' हैं वे ही साहित्यिक समालोचना के मूल्यमापक नहीं बन सकते। कतिपय उदाहरणों से आशय को स्पष्ट किया जाता है।

चित्रकला-मीमांसा में चित्र-दर्शन या दृश्यानुभूति 'गृहीत कृत्य' है, इसमें चित्र-द्रष्टा व्यक्ति के दोनों नेत्रों की पूर्ण अवस्थिति तथा नेत्रों पर धारित उपनेत्रों के रंग का अवधारण भी आवश्यक होता है। पीलिया रोग ग्रस्त व्यक्ति को समस्त जग पीला क्यों दिखाई देता है, इसका निर्धारण करने के लिए उसकी नेत्र-परीक्षा का प्रयत्न जितना आवश्यक और स्तुत्य है उतना ही स्तुत्य प्रयत्न अभिव्यक्ति-पद्धति के घटकों के विश्लेषण तथा अभिव्यक्ति-पद्धति के घटक और आशय के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा का है। पीलिया रोगग्रस्त व्यक्ति की नेत्र-परीक्षा से चित्र-सौन्दर्य के निर्धारण में जितनी सहायता मिलेगी उतनी ही सहायता आशय और अभिव्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध-विश्लेषण से कृति के सौन्दर्य-निर्धारण में मिलेगी।

साध्य-साधन के पारस्परिक सम्बंध पर आधृत सुसंघटना की कल्पना प्राणिशास्त्र में उपयोगी हो अथवा न हो परन्तु सौन्दर्यशास्त्र और साहित्यिक आलोचना में पूर्ण रूप से अप्रस्तुत है।

३. प्रत्येक वाङ्मय में अनुभूति या अनुभूतियों का संचय अभिव्यक्त होता है। इसका स्वरूप विशेषतः भावात्मक होता है। साहित्य में अभिव्यक्त आशय के आधार पर सुसंघटना (फार्म) के अन्वेषण का प्रयत्न बहुत प्राचीनकाल से—अरस्तु से ही होता आया है। इनके अनुसार साहित्य के आरम्भ, मध्य और अन्त के आधार पर अनुभूतियों में व्यक्त

सुसंघटना की खोज की जा सकती है। प्रस्तुत सुसंघटना की कल्पना में घटना के अनुक्रम की कल्पना भी अन्तर्निहित है। परन्तु किसी प्रकार के अनुक्रम के आधार पर साहित्य की सुसंघटना का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। अनुक्रम चाहे कृति के पृष्ठों के आधार पर हो, चाहे पठन-काल प्रधान अनुक्रम हो, अथवा चाहे स्थल कालातीत कल्पनानिष्ठ घटना-अनुक्रम हो। साहित्य में इस प्रकार के घटना-अनुक्रम का विशेष महत्त्व नहीं है। अरस्तु से जो इसका आरम्भ हुआ तो आज तक भी यह साहित्यिक समालोचना की गर्दन को मजबूती से दबोचे हुए है।

वस्तुतः साहित्यिक रचना सम्भावित घटनाओं की सीधी माला न होकर भावनात्मक लयों की केन्द्रपूर्ण आकृति होती है। जिस प्रकार माला की प्रत्येक मणि का ज्ञान हमें होता है उस प्रकार साहित्यिक रचना के आशय का नहीं हो पाता। अपितु हमें भावनात्मक लयों की आकृति की प्रतीति होती है। साहित्यिक रचना एक ही भावना की भी लयबद्ध आकृति हो सकती है, उदाहरणार्थ, भावगीत, निबन्ध अथवा कभी-कभी कहानी में भी एक ही भावना की लयबद्ध आकृति मिलती है। और कभी एक की अपेक्षा अनेक भावनाओं की भी लयबद्ध आकृति उपलब्ध हो सकती है, यथा—उपन्यास, नाटक, महाकाव्य आदि में। प्रस्तुत लयबद्ध आकृति का स्वरूप न तो घटनात्मक होता है, जिसमें सम्भवनीयता का तर्क-शास्त्रीय तत्त्व मिला हो और न वह सहचरी कल्पनाओं का मानस-शास्त्रीय तत्त्व होता है, उसका स्वरूप तो सौन्दर्यशास्त्र से सम्बंधित लय तत्त्वात्मक होता है। इसमें मूलतः मुख्य एक केन्द्रीय भावना होती है, इसका आश्रय लेकर दूसरी सहायक भावनाएँ मूल-भावना का कभी अतिक्रमण करती हुई तो कभी समानान्तर के रूप से चलती रहती हैं। इस प्रकार के भावनालयों से ही कलाकृति का निर्माण होता है। इन भावनात्मक लयों की संवाद, विरोध और समतोलता रूप नियमानुकूल अभिव्यक्ति में साहित्यिक रचना के लालित्य और वास्तविक कलात्मकता का मर्म निहित है। जब तक हमें रचना में लयबद्ध भावना-आकृति की प्रतीति होती है तब तक हम उस रचना को लालित्यपूर्ण रचना समझते हैं।

इस प्रकार साहित्यिक सुसंघटना (फार्म) अभिव्यक्ति-पद्धति तथा

अभिव्यक्ति-पद्धति और आशय के पारस्परिक सम्बन्ध की अपेक्षा आशय या अनुभूति-घटकों की लयबद्ध रचना में ही निहित हैं। साहित्यिक सुसंघटना का मूलतत्त्व, लयतत्त्व है, जिसे प्रायः तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है—संवादलय, विरोधलय और समतोललय।[1]

श्री मर्ढेकर ने एक अन्य निबन्ध 'वाङ्मय आणि सौन्दर्यशास्त्र' में उपर्युक्त लयतत्त्वों को सोदाहरण समझाते हुए कविता की समीक्षा की है। इनके मतानुसार इन लयतत्त्वों की परिभाषाएँ निम्न-लिखित हैं।

१. संवादलय—एक ही समय प्रतीयमान अनुभवों के दो सम्बंधों में से एक यदि गुण-धर्म की दृष्टि से दूसरे से पूर्ण रूप में अथवा बहुतांश में मिलता-जुलता हो तो उस अनुभव में संवादलय की प्रतीति होती है।

२. विरोधलय—एक ही समय प्रतीयमान अनुभवों के दो सम्बन्धों में से एक यदि गुण-धर्म की दृष्टि से दूसरे से पूर्ण रूप में अथवा बहु-तांश में विरुद्ध हो तो उस अनुभव में विरोधलय की प्रतीति होती है।

३. समतोललय—एक ही समय प्रतीयमान अनुभव से सम्बन्धित यदि दो गट हों और इन दोनों गटों के सम्बन्धों की संख्या यदि पूर्ण-रूप से अथवा बहुतांश में एक समान हो तो उस अनुभव में समतोललय की प्रतीति होती है।

श्री मर्ढेकर के मतानुसार उपर्युक्त तीनों लयतत्त्व ही मूलतः सौन्दर्य-शास्त्र और साहित्य में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।[2]

---

१. सौन्दर्य आणि साहित्य, पृ० १२९-१५२

२. दे० वही, पृ० १२३

परिशिष्ट—२

किसे सौन्दर्य न कहें ?*

[ले०—श्रीनरहर कुरुंदकर]

जब किसी वस्तु की हमें प्रतीति नहीं होती तब उसे व्याख्या या वर्णन के माध्यम से हम समझाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसी स्थिति में वस्तुतः अज्ञात वस्तु का अथवा संज्ञा का विश्लेषण करके उसके पूर्व विदित घटकों को एकत्र मिलाकर दिखाया जाता है। प्रस्तुत पद्धति घटक-युक्त सावयव संज्ञाओं के लिए भले ही उपयुक्त हो परन्तु सफेद, पीला इत्यादि निरवयव संज्ञाओं को इस पद्धति से समझाना कठिन है। इस प्रकार की निरवयव संज्ञाओं को 'केवल संज्ञा' (Simple Notions) कहा जाता है। अवयव-हीनता 'केवल संज्ञा' का मूलभूत वैशिष्ट्य है। इसी कारण इस प्रकार की संज्ञाओं की कम से कम चार विशेषताएँ होती हैं। उनका वर्णन अथवा उनकी व्याख्या संभव नहीं होती। व्यक्तिगत अनुभव के सिवाय उनके अस्तित्व का अन्य कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उनका अर्थ या तो पूर्ण रूप से समझ में आ जाता है अथवा बिल्कुल ही समझ में नहीं आता। निरवयव होने के कारण उनका सदैव एक सुनिश्चित अर्थ ही प्रतीत होता है। अतः एक प्रकार से केवल संज्ञाएँ वस्तुनिष्ठ ही होती हैं। प्रत्येक केवल संज्ञा पर क्रमशः प्रस्तुत पाँचों विशेषताएँ लागू होनी चाहिएँ। जिस मानसिक शक्ति की सहायता से इस प्रकार की संज्ञाओं का अर्थ प्रतीत होता है उसे इस पद्धति से विचार करने वाले व्यक्ति अंतःप्रेरणा की संज्ञा देते हैं।

जहाँ तक मुझे विदित है प्रो० मूर ने अपनी विचार-सरणी की प्रतिष्ठापना में सर्वप्रथम 'केवल संज्ञाओं' का महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया है। इनके मत में शिव (good) इसी प्रकार की संज्ञा है। जब हम

---

* : कुरुंदकर के प्रस्तुत लेख का महत्त्वपूर्ण अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है। इस लेख में व्यक्त आशय पर इस ग्रंथ के दूसरे लेख में विचार किया गया है।

X is good इस प्रकार के मूल्यवाचक विधान लेकर तद्गत अर्थ का, विशेषतः इसमें निहित 'शिव' विधेय के अर्थ का परीक्षण करने लगते हैं तब हमारे सामने क्रमशः तीन बातें उपस्थित होती हैं : (१) प्रस्तुत विधान का अर्थ हम सब जान लेते हैं अर्थात् इस विधान में कहीं भी आंतरिक विसंवाद दिखाकर उसे निरर्थक सिद्ध नहीं किया जा सकता। (२) कतिपय व्यक्तियों के मत में जो इष्ट (Desired) है उसे शिव समझना चाहिए। कतिपय अन्य व्यक्ति सुखद (Pleasant) को इस स्थान पर ग्रहण करते हैं। इस प्रकार प्रथम आक्षेप यह है कि जिसके स्थान पर शिव विधेय का प्रयोग किया गया है उसके स्थान पर इष्ट अथवा सुखद विधेय का प्रयोग नहीं किया जा सकता। अर्थात् सुखद और इष्ट का जो अर्थ है उससे भिन्न अर्थ शिव का है। दूसरा आक्षेप यह है कि सुखद का अर्थ यदि शिव लें तो हमें Pleasant is good इस प्रकार के विधान तक पहुंचना पड़ेगा और फिर 'शिव किसे कहें ?' इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए पुनः पूर्वावस्था में ही रहना पड़ेगा। तात्पर्य, इधर किसी भी संज्ञा की अपेक्षा शिव इस संज्ञा का अर्थ निराला ही है। (३) उपर्युक्त विधान में 'क्ष' इस उद्देश्य पर 'शिव' इस विधेय का आरोप किया गया है। प्रस्तुत आरोपित क्ष 'The good' इस प्रकार का है। प्रस्तुत विधान के विश्लेषण का अथवा The good के अनेक उदाहरणों को खोज कर उनमें सामान्यत्व के अन्वेषण का प्रयत्न अधिक सफल नहीं हो पाता है। मूल्यवाचक विधान का विश्लेषण करते समय सदैव The good का विश्लेषण होता है। और शिव विधेय विश्लेषणातीत ही रह जाता है। The good के अनेक उदाहरणों में सामान्य तत्त्व शिव के स्वरूप को ही दिखाते हैं, यह कथन भी उपयुक्त नहीं है। क्योंकि शिव 'क्ष' इस पद का अंश नहीं है। उद्देश्य के विश्लेषण को ही विधेय का विश्लेषण निर्धारित करना सबसे बड़ी गलती है। प्रस्तुत तीन आधारों पर ही प्रो० मूर ने शिव इस संज्ञा को विश्लेषणातीत, निरवयव केवल संज्ञा निर्धारित किया है।

अनेक व्यक्तियों को प्रस्तुत मूल्यमीमांसा मोहक प्रतीत होती है। इन्हीं कारणों तथा इसी प्रकार के उदाहरणों का आधार लेकर अन्य कतिपय संज्ञाओं को केवल संज्ञा निर्धारित करने का प्रयत्न किया जाता

है। मेरे मित्र प्राचार्य सुरेन्द्र वारलिंगे ने ('सत्यकथा', जुलाई १९५६ के अंक में) इसी प्रकार का प्रयत्न किया है। इन्होंने 'क्ष सुन्दर है' इस विधान पर विचार किया है। इनकी प्रथम स्थापना यह है कि सुन्दर और सुखद अथवा सुन्दर और आनंददायक ये संज्ञाएं समानार्थक नहीं हैं तथा सुन्दर संज्ञा इतर किसी भी संज्ञा से निराली होती है। इनकी दूसरी स्थापना यह है कि उपर्युक्त विधान में 'क्ष' का स्वरूप The beautiful जैसा है और जब इस विधान का विश्लेषण किया जाता है तब The beautiful का ही विश्लेषण होता है। परन्तु सुन्दर यह विधेय विश्लेषणातीत ही रहता है। इनकी दो और स्थापनाएँ हैं कि उद्देश्य का विश्लेषण अनिवार्यतः विधेय का विश्लेषण हो यह आवश्यक नहीं है और सुन्दर 'क्ष' का भाग नहीं होता। अतः वह अस्तित्ववाचक विधेय नहीं होता। इस आधार पर श्री वारलिंगे ने सुन्दर को केवल संज्ञा निर्धारित किया है। सौन्दर्यवाचक विधान का अर्थ अनुभवनिष्ठ होता है। श्री मर्ढेकर के सामने जटिल प्रश्न था कि इसमें से वास्तविक वस्तुनिष्ठ सौन्दर्यवाचक विधान का निर्माण कैसे किया जाय और प्रस्तुत स्थापना से इस प्रश्न का समाधान मिल जाता है। केवल संज्ञाओं को यद्यपि अनुभवमात्र का ही आधार होता है तो भी वे वस्तुनिष्ठ होती हैं, फलतः एक ओर सौन्दर्य की अनुभवनिष्ठता स्थिर रहती है और सौन्दर्यशास्त्र में सहृदय का स्थान आदरणीय रहता है तो दूसरी ओर सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ बना रहता है जिससे शास्त्र-रचना संभव हो जाती है।

प्रस्तुत समग्र स्थापना मुझे सदोष प्रतीत होती है। क्षण भर के लिए यदि यह मान भी लिया जाय कि मूर की मूल्य विषयक स्थापनाएँ सही हैं तो भी सुन्दर को केवल संज्ञा मानने में कतिपय अड़चनें आती हैं। 'क्ष सुन्दर है' और 'क्ष शिव है' ये दोनों विधान मूल्यवाचक हैं। यदि शिव और सुन्दर को केवल संज्ञा कहा जाय तो जो-जो शिव होगा वह-वह सुन्दर रहेगा, इससे नीतिशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का पारस्परिक अन्तर समाप्त-सा हो जायेगा। जब सुन्दर को केवल संज्ञा तो मानें और उसे मूल्य न मानें तो सुन्दर विधेय को १. अस्तित्ववाचक २. संबन्धदर्शक तथा ३. वृत्तिदर्शक (Attitude) इनमें से कोई एक मानना पड़ेगा।

अंतिम दो विधेय केवल नहीं होते और प्रथम प्रकार में सिर्फ इन्द्रिय संवदेना ही एक आशय से केवल होती है। इसका आशय यह निकलता है कि सुन्दर यह किसी एक इन्द्रिय के विषय के संवेदन का नाम है। और यह आशय ग्राह्य प्रतीत नहीं होता। कदाचित् मूर को भी यह अड़चन आई थी। इसलिए उन्होंने कहा है कि 'जिस क्ष का आस्वाद शिव है उस क्ष को सुन्दर कहा जाय।' परन्तु इतनी सावधानी बरतने पर भी यह प्रश्न बना ही रहता है। यहाँ The beautiful और beautiful को एक ही समझने की गलती हुई है।

यदि मूर की विचारधारा को छोड़कर इस प्रश्न पर चिन्तन किया जाय तो प्रथम यह आवश्यक हो जाता है कि हम केवल संज्ञा का पूरा-पूरा आशय जान लें। जिन-जिन व्यक्तियों ने पीला रंग देखा है और उस आशय को व्यक्त करने के लिए पीला शब्द स्वीकृत कर लिया है उन-उन व्यक्तियों को पीला शब्दोच्चारण करते ही जैसा और जितना अर्थबोध होता है उतना और वैसा ही अर्थबोध यदि सुन्दर इस संज्ञा से हो जाता तो विवाद के लिए कोई कारण ही न रहता। परन्तु सुन्दर यह एक ही विधेय अनेक व्यक्तियों को अनेक अर्थच्छटाएँ दिखाता है। यही तो विवाद का मूल कारण है। इससे कुछ अधिक गहराई में जाकर सोचें तो पीला, सफेद आदि इन केवल संज्ञाओं से शिव, सुन्दर आदि संज्ञाओं की तुलना ही नहीं हो सकती। क्योंकि पीला यह विधेय उद्देश्य का ही अंशरूप और उसका ही वर्णन करने वाला है। शिव और सुन्दर को केवल संज्ञा निर्दिष्ट करने में वस्तुतः कोई आधार ही नहीं है। विधेयपदवाची संज्ञा इतर संज्ञाओं की अपेक्षा भिन्न अर्थ की द्योतक होती है तथा वह विश्लेषणातीत होती है, यह कहना भी अपर्याप्त है। यदि 'यह गीदड़ है' यह विधान लें तो इसमें के गीदड़ विधेय को इतर सब से भिन्न किया जा सकता है। प्राणी का तत्पर्य गीदड़ नहीं है, चतुष्पाद का तात्पर्य भी गीदड़ नहीं है वरन् गीदड़ का तात्पर्य ही गीदड़ कहा जा सकेगा। चार पाँव, पूँछ आदि अवयव 'यह' इस उद्देश्य के अंश हैं, वे 'गीदड़' इस विधेय के अंश नहीं हैं। जिस आधार पर मूर शिव इस संज्ञा को और वारलिंगे सुन्दर इस संज्ञा को केवल निर्धारित करते हैं उस आधार पर जिसे चाहें उसे केवल निर्धारित करना कठिन नहीं है।

ऐसी स्थिति में दो अंश हमारे सामने आते हैं—संज्ञा व जिस अर्थ की वह द्योतक है और जिस पर वह आरोपित की जाती है। संज्ञा जिस अर्थ का द्योतन करती है वह यदि केवल नहीं है तो संज्ञा का केवल होना अथवा उसे वैसा निर्धारित करना धोखे से खाली नहीं है। The beautiful में कम से कम सौंदर्य धर्म तो केवल हैं यह निर्दिष्ट किये बिना सुन्दर को केवल संज्ञा के रूप में प्रतिपादित करने में कोई सार्थकता नहीं है।